भूमिः स्वर्गताम् यातु धर्मो सफलताम् यातु
मनुष्यो यातु देवताम् नित्यम् यातु शुभोदयाम्

अस्तित्व एवं अस्तित्व में परमाणु का विकास

सत्ता में संपृक्त प्रकृति

अस्तित्व सर्वस्व

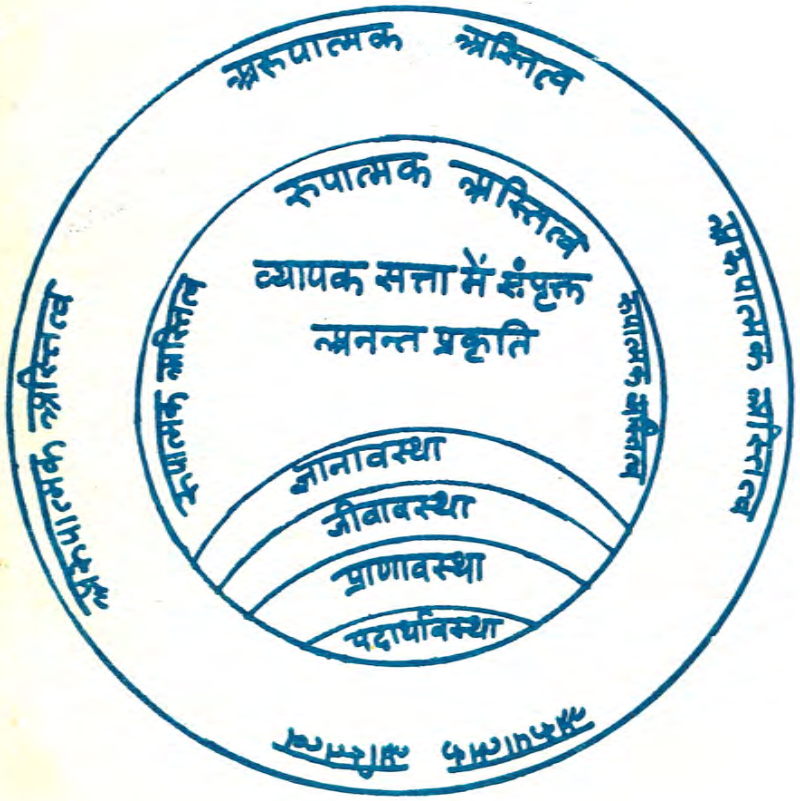

प्रणेता एवं लेखक–
– ए० नागराज शर्मा

अस्तित्व एवं अस्तित्व में परमाणु का विकास

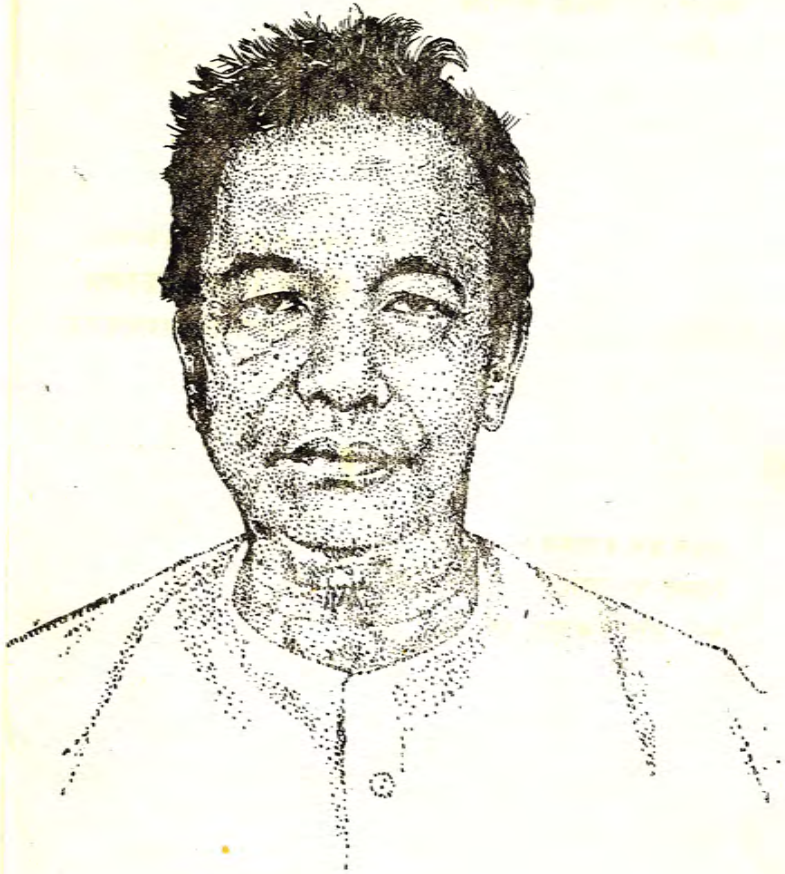

प्रणेता एवं लेखक

– ए० नागराज शर्मा

श्री भजनाश्रम श्री नर्मदाचल

अमरकंटक (शहडोल) म. प्र.

वर्तमान
ील है।
ान है।
ास के
ं अर्पित
। अज्ञात
चाहता
पर ही
यात्मक
सामान्य
अस्तित्व
अस्तित्व
ना पाया
है।
होने।

होने।

पहिचानने
जागृति
ल से रही
र्थ अनुभव
णकता का

ज शर्मा
ा,
अस्तित्ववाद

सर्वाधिकार–
प्रणेता एवं लेखक के पास
सुरक्षित

प्रथम संस्करण के प्रकाशक–
जीवन विद्या प्रकाशन
श्री भजनाश्रम अमरकंटक

मुद्रण एवं प्रकाशन :–
विनय प्रकाशन
सत्ती चौक गंजपारा, दुर्ग

प्राप्ति स्थान :–
श्री भजनाश्रम
श्री नर्मदाचल
पोष्ट - अमरकंटक
जिला - शहडोल (म.प्र.)

अस्तित्व को अनादि काल से मानव असन्दिग्ध रूप में समझने का प्रयास करता रहा है। इसी क्रम में अधिभौतिकवादी विचारों के अनुसार चेतना से पदार्थ की उत्पत्ति होती है / मानी जाती है।

भौतिकवादी विचारों के अनुसार पदार्थ से चेतना निष्पन्न होती है।

ये दोनों विचारधारायें अपने-अपने समर्थन के लिए अनेकानेक तर्कों को एकत्रित करते रहे। अभी तक न तो किसी ने चेतना से पदार्थ को पैदा होते हुए देखा तथा न ही पदार्थ से चेतना पैदा होते हुए देखने को मिली। यही देखने को मिलता है कि चेतना एवं पदार्थ अविभाज्य वर्तमान हैं। इसके मूल रूप को देखने से पता चलता है कि सत्ता (चेतना) में सम्पृक्त प्रकृति (पदार्थ) ही अस्तित्व सर्वस्व है। यहां देखने का तात्पर्य समझने से है। सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अविभाज्य वर्तमान होने के कारण अस्तित्व स्वयं सह–अस्तित्व के रूप में नित्य प्रकाशित है। इस तथ्य को हृदयंगम करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चेतना और पदार्थ में नित्य सामरस्यता त्रिकालाबाध सत्य है।

सत्ता अरूप है और सत्ता में प्रकृति रूप है और अविभाज्य है। ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां सत्ता न हो, इसलिए प्रकृति का सत्ता में होना स्वाभाविक है। सत्ता को स्वयं ऊर्जा, शून्य, ज्ञान, चेतना, व्यापक, नित्य, ईश्वर, अविनाशी, सत्य और निरपेक्ष के नाम से भी जाना जाता है। सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाइयों के रूप में है। प्रत्येक इकाई सत्ता में सम्पृक्त होनें के कारण सत्ता में घिरी हुई, डूबी हुई और भीगी हुई है।

सत्ता कितनी लम्बाई–चौड़ाई में व्याप्त है, इसका कोई मापदण्ड नहीं होता, इसलिए सत्ता व्यापक है। प्रकृति में जितनी

भी इकाइयां हैं, उन सबकी गणना नहीं हो पाती इसलिए वे अनंत हैं। इस प्रकार अस्तित्व स्वयं व्यापक और अनन्त है।

सत्ता अरूपात्मक और सत्ता में प्रकृति रूपात्मक अस्तित्व है। अस्तित्व का तात्पर्य होने से और अविनाशिता से है। सत्ता तरंग और दबाव–विहीन स्थिति में है, जबकि सत्ता में ही सम्पूर्ण प्रकृति, गति, तरंग और दबाव सहित विद्यमान है। तरंग–विरल (वायु) पदार्थ की, आवेश–(विदेशी शक्ति के प्रहार सहित) गति, दबाव वातावरणवश आकर्षण-विकर्षण के लिए बाध्यता। सत्ता अरूपात्मक होने के कारण आयामों से सीमित नहीं है, जबकि सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाइयों का समूह है। साथ ही प्रत्येक इकाई आयामों सहित छः ओर से सीमित है।

अस्तित्व सह–अस्तित्व होने के कारण पूरकता और पहिचान नित्य सिद्ध होती है। "जो था नहीं वह होता नहीं"। इसी कारणवश अस्तित्व जैसा है वह अनन्त काल तक वैसा रहेगा ही। इसी सत्यतावश सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति की प्रत्येक इकाई अस्तित्व को और परस्परता को पहिचानने के रूप में व्यवहृत है (self explained) ; क्योंकि प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव और धर्म अविभाज्य वर्तमान हैं। सत्ता में प्रकृति सम्पृक्त होनें के कारण प्रत्येक इकाई अस्तित्व धर्म को पहचानती है इसका साक्षी ही है कि किसी इकाई का नाश न होना। जो कुछ भी होता है वह केवल परिवर्तन और विकास ही है। धर्म का तात्पर्य जिससे जिसका विलगीकरण न हो। अस्तित्व स्वयं सह–अस्तित्व होने के कारण यही परम–धर्म का रूप है। अस्तित्व स्वयं सम्पूर्ण भाव होने के कारण प्रत्येक इकाई में भाव सम्पन्नता देखने को मिलती है। मूलतः अस्तित्व ही परमभाव होने के कारण

अस्तित्व ही परमधर्म हुआ। इस प्रकार भाव और पदार्थ का अविभाज्य वर्तमान है। सह–अस्तित्व ही अस्तित्व का स्वरूप होने के कारण सम्पूर्ण भाव (मूल्य) परस्परता में पूरकता, पहिचान, व्यंजना है और अभिव्यक्तिरूप मे आदान–प्रदान है। सम्पूर्ण भाव का तात्पर्य प्रत्येक पद और अवस्था में स्थित इकाइयों की मौलिकता से है। मौलिकता का तात्पर्य मूल्य से है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमधर्म (अस्तित्व) प्रत्येक इकाई में समान है। इसीलिए यह सार्वभौम और शाश्वत है। मूल्यों की ही आदान–प्रदान और पहिचान होती है क्योंकि परस्परता में ही पूरकता, पहिचान और व्यंजनायें होती हैं। साथ ही प्रत्येक व्यंजना व्याख्यायित होने योग्य घटना है। इकाई की मौलिकता (मूल्य) नित्य वर्तमान होनें के कारण नियन्त्रित व सार्वभौम है।

सह–अस्तित्व में परस्परता स्वभाव सिद्ध होने के कारण पूरकता और पहिचान आदान–प्रदान के रूप मे होना अनवरत स्थिति है। अस्तित्व ही सत्य है। सत्य ही स्थितिसत्य, वस्तुस्थिति सत्य, वस्तुगत सत्य के स्थिति में है। सह–अस्तित्व के आदान–प्रदान का जो प्रवाह है उसे देखने पर पता चलता है कि सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति ही प्रधान (अथवा सम्पूर्ण) अध्ययन की वस्तु बन जाती है। स्थितिपूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति स्थितिशील दिखाई पड़ती है। सत्ता में सम्पृक्त स्थितिशील प्रकृति उसके अनन्त इकाईत्व के स्वरूपवश पहिचानने में आती है। इसी क्रम में प्रत्येक इकाई दूसरी इकाई को पहिचानने की व्यवस्था अस्तित्व में प्रकाशित हुई। स्थिति पूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति का पूर्ण में गर्भित होना स्वाभाविक है। पूर्णता में गर्भित होने का तात्पर्य ही है कि पूर्णता

का अभीष्ट अथवा ऐसे अभीष्ट का मूल रूप समाये रहने से है। इसी सत्यतावश प्रत्येक इकाई पूर्णता से सम्पन्न होनें के लिए एक अनिवार्य स्थिति हुई। इसी सत्यतावश सम्पूर्ण इकाई का विकास की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक हुआ। फलस्वरूप परस्परता में पहचान सहित आदान–प्रदान होना एक स्वाभाविक स्थिति हुई।

स्थितिशील प्रकृति की परस्परता में पूर्णता और अपूर्णता की स्थिति इस प्रकार स्पष्ट होती है कि स्थितिपूर्ण सत्ता में स्थितिशील प्रकृति अनन्त इकाइयों का समूह होनें के कारण परस्परता एक अपरिहार्य स्थिति है। पूर्ण में गर्भित प्रत्येक इकाई पूर्णता के लिए ही क्रियाशील एवं विकासशील है।

स्थितिपूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति सत्ता में अनुभवपर्यन्त विकास और जागृति के लिए बाध्य है। विकास का तात्पर्य गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता और उसकी निरन्तरता से है जागृति का तात्पर्य समाधान एवं प्रामाणिकता से है। इकाई में नियम और उसकी निरन्तरता का सत्यापन इकाई में प्रमाण और प्रामाणिकता ही है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि इकाई में नियन्त्रण और उसकी महिमा स्पष्ट होती है। यही उसकी निरन्तरता का द्योतक है।

"पूर्णता के अर्थ में अपूर्णता स्पष्ट होती है।" जबकि प्रत्येक अपने पद में, सह–अस्तित्व के अर्थ में समाधानित है क्योंकि सह–अस्तित्व में परस्पर पूरकता है। यह पूरकता पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में प्रकाशित है। ज्ञानावस्था में मानव ही गण्य होता है। मानव जड़-चैतन्य का संयुक्त साकार रूप होने के कारण व साथ ही ज्ञानावस्था के पद में होने के कारण इनमें कर्म करते समय स्वतन्त्र, फल भोगते समय परतन्त्र होने की व्यवस्था उनमें ही समाहित है।

क्योंकि विकास और जागृति क्रम में स्वतन्त्रता एक मौलिक प्रकाशन है। स्वतन्त्रता के लिए इकाई इसीलिए बाध्य होती गयी कि वातावरण और नैसर्गिकता के हस्तक्षेप से प्रवर्तन होना एक अनिवार्य स्थिति रही। इसी क्रम में पूर्णता का अभीष्ट, इकाई में होना एक शाश्वत स्थिति रही है। इसलिए इकाई पूर्णता–क्रम में विकसित होती रही। जब विकास का पहला चरण अथवा पूर्णता का पहला चरण गठनपूर्णता सम्पन्न हुई, ऐसी गठनपूर्ण इकाई जीवावस्था में केवल जीने की आशा से कार्यरत रही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णता के अर्थ में विकासक्रम अस्तित्व में स्वयं स्पष्ट है। इसलिए पूर्णता के अर्थ में अपूर्णता सहज रूप में समझ में आती है।

रूपात्मक अस्तित्व–

प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। क्योंकि परमाणु में ही विकास होता है। प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु है। प्रत्येक गठन में एक से अधिक अंशों का होना अनिवार्य है। परमाणु के पूर्व रूप अंशों के पद में विकास होता नहीं है। परमाणु के पररूप रचनाएं विकास की लाक्षणिकता को प्रकाशित करते हुए, विकास नहीं होता, क्योंकि विकसित इकाई अर्थात् जीवन, शरीर रचना के माध्यम से प्रकाशित और सम्प्रेषित होता है। विकास के क्रम में ही प्रकृति दो वर्ग व चार अवस्थाओं में प्रकाशमान है। प्रकृति के दो वर्ग-जड़ और चैतन्य हैं। प्रकृति की चार अवस्थाएं पदार्थावस्था प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था हैं। प्रकृति में पदचक्र और

पदमुक्ति का प्रभेद चार प्रकार से है। जैसे– प्राणपद चक्र, भ्रांति-पद चक्र, देवपद चक्र और पदमुक्ति (दिव्यपद या पूर्णपद)। इसी क्रम में अस्तित्व में प्रकृति का विकास और उसका इतिहास समीचीन है।

अस्तित्व में प्रकृति अपनी सम्पूर्ण वैविध्यता को विकास के क्रम में प्रकाशित करती है। यह एक अनवरत क्रिया है। अस्तित्व में विकास शाश्वत प्रणाली है क्योंकि अस्तित्व स्वयं सह–अस्तित्व होने के कारण परस्पर प्रकृति में आदान–प्रदान एक स्वाभाविक क्रिया है। आदान-प्रदान अपनी दोनों स्थितियों में स्वयं व्याख्यायित है। आदान–प्रदान के अनन्तर तुष्टि अथवा स्वभावगति का होना पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस इकाई में आदान होता है उसके उपरान्त स्वभाव गति होती ही है। साथ ही प्रदान जिससे होता है उसके उपरान्त उसमें भी स्वभाव गति होती है।

अस्तित्व ही सह-अस्तित्व है–

प्रकृति में वैविध्यता है। वैविध्यता का मूल रूप पदार्थ में अथवा प्रकृति में अनेक स्थितियां हैं। प्रकृति में अनेक स्थितियां विकास के क्रम में हैं। मूलतः अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने के कारण प्रकृति की प्रत्येक इकाई की परस्परता में सह-अस्तित्व का सूत्र समाया है। (क्योंकि प्रकृति की अनन्त इकाइयां परस्परता में आदान–प्रदान रत हैं।) सह–अस्तित्व ही पूरकता का स्वरूप है। पूरकता विकास के अर्थ में सार्थक होती है। अस्तित्व में विकास एक अनिवार्य स्थिति है। विकास के क्रम में अनेक पद और

स्थितियां अस्तित्व में देखने को मिलती हैं। प्रकृति, पदार्थ के नाम से भी अभिहित होती है। पदार्थ का तात्पर्य है कि पदभेद से अर्थभेद को प्रकाशित कर सके अथवा पदभेद से अर्थभेद को प्रकाशित करने वाली वस्तुओं से है। वस्तु का तात्पर्य, वास्तविकताओं को प्रकाशित करने योग्य क्षमता सम्पन्न इकाई से है। अथवा इकाइयों से है। इस प्रकार प्रकृति में वस्तु और पदार्थ की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है।

अस्तित्व में प्रकृति नित्य क्रियाशील होने के कारण प्रत्येक क्रिया में श्रम, गति, परिणाम अविभाज्य रूप में वर्तमान रहता है। इसी सत्यतावश प्रकृति में परिणाम और विकास स्पष्ट है। विकास ही अस्तित्व में विविधता के रूप में दिखाई पड़ता है। यही स्थिति अध्ययन की मूल वस्तु सिद्ध हो जाती है। अध्ययन करने की क्षमता केवल मनुष्य में ही पायी जाती है। मनुष्य भी अस्तित्व अभिन्न अथवा अविभाज्य इकाई है। अध्ययन के लिए अस्तित्व से अधिक कोई वस्तु या आधार नहीं है। इसीलिए अस्तित्व में यथार्थता वास्तविकता और सत्यता के अध्ययन क्रम में निर्भ्रमता होती है।

"अस्तित्व में विकास एक अनुस्यूत क्रिया है।"

विकास का मूल स्फूर्ति अथवा स्फुरण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति में निरन्तर निहित है। "स्व" की अभिव्यक्ति में स्वयं स्फूर्त होना और वातावरण और नैसर्गिकतावश स्फुरण होना एक व्यावहारिक प्रक्रिया है। इसको जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति में देखा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वयं से जो शक्तियों को स्वेच्छापूर्वक

अथवा स्वप्रेरणा पूर्वक व्यक्त करे वह स्फूर्ति के रूप में गण्य होता है। इसका साक्ष्य है कि प्रत्येक इकाई स्वयं क्रियाशील रहती है।

स्फुरण को इस प्रकार देखा जाता है कि एक बीज को जब नैसर्गिकता में स्थित पाते है तब उसमें अंकुरण होने की क्रिया आरम्भ हो जाती है। बीज होते हुए भी नैसर्गिकता के बिना स्फुरण उसमें नहीं हो पाता। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि स्फुरण नैसर्गिकता के योग से स्वयं में होने वाली क्रिया और स्फूर्ति स्वयं के वैभव को स्वयं प्रेरित पद्धति से अभिव्यक्त करने की क्रिया है। इसका कारण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभव पर्यन्त विकसित होना ही है। विकास अस्तित्व में निरन्तर प्रकाशमान है। यह चार अवस्थाओं में है। प्रथम पदार्थावस्था, द्वितीय प्राणावस्था, तृतीय जीवावस्था, चतुर्थ ज्ञानावस्था।

पदार्थावस्था ठोस, तरल व वायु के रूप में देखने को मिलती है। इसके मूल में तात्विकता और रासायनिकता होती है जो भौतिक और रासायनिक रचना के रूप में मिलता है। प्राणावस्था, पदार्थावस्था से विकसित रासायनिक द्रव्यों से सम्पन्न प्राण-कोशिकाओं की रचना के रूप में है। प्राणावस्था और पदार्थावस्था में विविधताएं रचना और रासायनिक योग संयोगों के आधार पर है। ऐसी रासायनिक और भौतिक रचना और स्थिति के मूल में परमाणु की विविधता है। परमाणु की विविधता उसमें समाहित अंशों के आधार पर है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हुआ कि रचना और रचनाओं की स्थिति के मूल में रासायनिक एवं भौतिक अथवा तात्विक योग ही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्ता में सम्पृक्त ऊर्जामय प्रकृति अपने मूल रूप परमाणु की स्थिति में अनेक तत्व सम्पन्न है।

फलस्वरूप अणु और अणुरचित स्वरूपों में अपने आप में वैविध्यता की व्यवस्था है। प्राणकोशिकाओं से जीव व मनुष्य शरीर की रचनाएं हैं। रचनाएं विकास जैसी लगती हैं पर विकास नहीं है, क्योंकि जो जिससे बना रहता है उससे अधिक नहीं होता। जीवावस्था और ज्ञानावस्था—ये जड़—चैतन्य के संयुक्त प्रकाशन हैं। पदार्थ और प्राणावस्था की रचनायें जड़ प्रकृति हैं। जीवावस्था और ज्ञानावस्था की प्रकृति चैतन्य प्रकृति है। जीव और मनुष्य शरीर की रचना भी बीज—वृक्ष न्याय पूर्वक सम्पन्न होती है। इसीलिए शरीर जड़ प्रकृति के रूप में स्पष्ट है।

चैतन्य इकाई तात्विक रूप में एक गठनपूर्णता प्राप्त परमाणु है। परमाणु में विकास, रूप परिवर्तन के साथ गुण परिवर्तन होता है। यह प्रक्रिया तब तक होती है जब तक परमाणु में गठन पूर्णता न हो। गठनपूर्णता का तात्पर्य परमाणु के गठन में जितने अंशों के समाने की व्यवस्था है, उन सभी अंशों के समा जाने से है। गठनपूर्ण स्थिति में उस परमाणु में से न तो कोई अंश बढ़ता है और न ही कोई अंश घटता है। इसी सत्यतावश गठनपूर्ण परमाणु में अक्षयशक्ति और बल सम्पन्नता है। परमाणु के विकास के सम्बन्ध में "अस्तित्व में परमाणु के विकास" का अवलोकन करें।

जीव और मनुष्य—प्रकृति जड़—चैतन्य का संयुक्त साकार रूप होने के कारण ही है कि जीवन की जीवन्तता शरीर के द्वारा प्रकाशित हैं। अस्तित्व स्वयं सह—अस्तित्व होने के कारण ही प्रकृति परस्पर पूरकता के रूप में नित्य वर्तमान है। यही विकास का प्रधान क्रिया स्वरूप है। इसी क्रम में जड़ चैतन्य का संयुक्त प्रकाशन भी एक स्वभाविक स्थिति है। यही नियतिक्रम व्यवस्था भी है। प्रकृति में प्रत्येक इकाई सह—अस्तित्वरत है, क्योंकि अस्तित्व स्वयं सह—अस्तित्व है। इसी सत्यतावश जड़—चैतन्य में

सह – अस्तित्व, जीवन (गठनपूर्ण परमाणु) और रचना (प्राणकोशिकाओं की रचना) में सह–अस्तित्व सिद्ध हुआ। सह–अस्तित्व नित्यपूरकता के अर्थ में स्पष्ट है। इस प्रकार अस्तित्व ही विकास, विकास ही क्रम, क्रम ही व्यवस्था, व्यवस्था ही स्वयं नियति है।

अधिक शक्ति और बल, कम शक्ति और बल के माध्यम से प्रकाशित होता है क्योंकि बल और शक्ति की अधिकता क्षयशील और अक्षयशीलता के अर्थ में भी सार्थक होती है। अक्षयबल और शक्ति प्रत्येक चैतन्य इकाई में समान रूप से विद्यमान है, जबकि जड़ प्रकृति की प्रत्येक इकाई में शक्ति की क्षरणशीलता (परिवर्तन शीलता) स्पष्ट है। इसी सत्यतावश यह सिद्ध हो जाता है कि जड़ प्रकृति की स्थूलता उसकी शक्तियों की क्षरणशीलतावश अनिवार्य स्थिति है। अर्थात् संगठनात्मक बन्धन स्वाभाविक है। जबकि चैतन्य इकाई तात्विक रूप में एक ही परमाणु है वह गठनपूर्ण परमाणु होनें के कारण उसकी सूक्ष्मता अपने आप में व्याख्यायित है। इस प्रकार जीवन की सूक्ष्मता और अक्षयमहिमा स्पष्ट होने के कारण यह तथ्य असंदिग्ध रूप में सिद्ध हो जाता है कि प्राणकोशिकाओं से रचित शरीर चैतन्य प्रकृति की तुलना में कम शक्ति एवं कम बल सम्पन्न है। साथ ही शरीर स्थूल रूप है तथा जीवन सूक्ष्म रूप है। इसीलिए कम शक्ति, कम बल के माध्यम से अधिक शक्ति व अधिक बल प्रकाशित होना सार्वभौम सिद्ध हुआ।

नियन्त्रण स्वयं नियम के रूप में स्पष्ट होता है। फलतः प्रत्येक इकाई में नियमपूर्वक ही एक दूसरे को पहचानने की व्यवस्था है। यही नियन्त्रण का तात्पर्य है। एक दूसरे को पहचानने के लिए

प्रत्येक इकाई का अपने में सम्पूर्णता का होना है। परस्पर पहचानने का मूल तत्व और नियन्त्रण का मूल रूप अपने आप में सत्ता में सम्पृक्तता और ऊर्जामयता ही है। सत्ता में भीगे रहने के फलस्वरूप ही, इकाई के सभी ओर शून्य का होना देखा जाता है। यही भीगा रहना स्वयं बल का स्वरूप अपने आप में इस बात से स्पष्ट होता है कि डूबा हुआ एवं घिरा होने के कारण ही भीगा हुआ है। इस प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता हैं कि हम इकाई के कितने भी विभाजन करें, उसका प्रत्येक भाग–विभाग यथावत् डूबा हुआ, घिरा हुआ एवं भीगा हुआ दिखाई देता है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि एक का नाश नहीं होता तथा इसका साक्ष्य मिलता है कि छोटी से छोटी एवं बड़ी से बड़ी इकाइयां सतत क्रियाशीलहैं।क्रियाशीलता स्वयं बल का द्योतक है। तथा क्रिया स्वयं नियन्त्रित रहने का द्योतक है। इस प्रकार इकाई का शून्य में घिरे रहने के कारण नियन्त्रण, डूबे रहने के कारण क्रियाशील एवं भीगे रहनें के कारण बल सम्पन्नता को देखा जाता है।

प्रत्येक इकाई में नियन्त्रण, बल एवं क्रियाशीलता अविभाज्य रूप में वर्तमान है तथा अपनी स्वाभाविक गति में समान होते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक इकाई अपनी सम्पूर्णता में ध्रुव होती है। ध्रुवता से तात्पर्य स्थिरता से है। सम्पूर्णता का तात्पर्य नियन्त्रण, क्रियाशीलता और बल सम्पन्नता से है। नियंत्रण क्रियाशीलता और बल प्रत्येक इकाई का नित्य वैभव है। इसका पराभव कभी नहीं होता। अस्तित्व सत्तामय होनें कारण तथा अस्तित्व में ही सम्पूर्ण प्रकृति विद्यमान होने के फलस्वरूप सत्ता से वस्तु का वियोग नहीं होता। इसी कारण इकाई का वैभव नित्य शाश्वत और स्थिर सिद्ध होता है। स्थिरता का तात्पर्य अस्तित्व की नित्यता और क्रिया की निरन्तरता में है।

प्रत्येक इकाई का स्वभाव–गति में वैभव है ।

प्रत्येक क्रिया, श्रम, गति, परिणाम का अविभाज्य वर्तमान है । यह श्रम-।-परिणाम = गति, गति-।-परिणाम = श्रम, श्रम-।-गति = परिणाम ।

प्रत्येक इकाई अपने गतिपथ सहित वैभवित है । यही गतिपथ उस परमाणु की नियन्त्रण रेखा भी है और सीमा भी है । ऐसे गतिपथ की सीमा में प्रत्येक परमाणु अपने में समाहित सम्पूर्ण अंशों के अनुशासन समेत परिभाषित होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक परमाणु में समाहित प्रत्येक अंश अपनी परस्परता में एक निश्चित दूरी में अपने अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए अनुशासन को, गठन के अंगभूत कार्य के रूप में प्रकाशित करते हैं। ऐसे प्रत्येक परमाणु में अंशों का घटना बढ़ना देखा जाता है । इस क्रिया को किसी एक परमाणु से कुछ अंशों का क्षरण होना तथा दूसरे किसी परमाणु में समा जाना के रूप में देखा जाता है। इसी क्रम में गठनपूर्णता होती है। इसका साक्ष्य अक्षयबल एवं अक्षयशक्ति सम्पन्नता से होती है। चैतन्य प्रकृति में अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति स्पष्ट है । यही तात्विक परिणाम प्रक्रिया है । इसी क्रम में विभिन्न संख्यात्मक अंश सम्पन्न परमाणु अस्तित्व में दिखाई पड़ते हैं । ऐसे विभिन्न संख्या से सम्पन्न परमाणु स्वयं विभिन्न जातियों में गण्य होते हैं । यहीं तात्विक परिवर्तन, स्थिति, अभिव्यक्ति, प्रकाशन और ज्ञान का तात्पर्य है ।

परमाणु के विकास के क्रम मे एक ऐसी अवधि आती है जिसमें उस परमाणु के गठन के लिये जितने अंशों की आवश्यकता रहती है, वे सभी समा जाते हैं, उसी समय वह गठनपूर्ण हो जाता है ।

गठनपूर्णता का तात्पर्य उस गठन में–से–के लिये तृप्ति है । यही परिणाम का अमरत्व है और चैतन्य–पद है । इस पद में प्रत्येक इकाई समान होती है ।

गति प्रत्येक इकाई में वर्तुलात्मक एवं कम्पनात्मक रूप में गण्य होती है । इसी गति एवं वातावरण के दबाववश स्थानान्तरण सिद्ध हो जाता है । स्थान का तात्पर्य साम्य ऊर्जा अथवा शून्य और ऊर्जामयता ही है । क्योंकि प्रत्येक इकाई छः ओर से सीमित पदार्थ पिण्ड है । "ओर"का स्वरूप शून्य अथवा सत्यमयता ही है ।प्रत्येक इकाई परस्परता में स्वभाव गति अथवा आवेशित गति में अवस्थित होती हैं । आवेशित गति का प्रधान कारण नैसर्गिक व वातावरण के योगफल में होने वाले दबाव पर आधारित होता है । साथ ही यह भी देखने को मिलता है कि जिस इकाई के लिए जो नैसर्गिक वातावरण चाहिये वह उस इकाई के स्वरूप में ही होता है । इसी कारण प्रत्येक इकाई एक दूसरे के लिए नैसर्गित सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार परस्पर पूरकता स्वयं सिद्ध होती है । पूरकता परस्पर स्वभावगति की स्थिति में होने वाले वातावरण से है । नैसर्गिकता स्वभावगति मे होने वाली स्थिति से है । वातावरण का तात्पर्य आदान–प्रदान से है । नैसर्गिकता का तात्पर्य परस्परता से है । इस प्रकार जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति का अपने आप में परस्पर नैसर्गिक और वातावरण होना एक अनुस्थूत प्रक्रिया सिद्ध हुई । यह स्वयं सहअस्तित्व का द्योतक है ।

"कम्पनात्मक गति और वर्तुलात्मक गति प्रत्येक इकाई में वर्तमानहै"

परमाणु में विकास का क्रम देखें तो पता चलता है कि जैसे–जैसे परमाणु विकसित होता जाता है, वैसे–वैसे उसमें कम्पनात्मक गति बढ़ती जाती हैं। इसी के साथ उसकी स्थिरता व्याख्यायित होती जाती है। इसी क्रम में गठनपूर्णता हो जाती है। जैसे ही गठनपूर्णता होती है, वैसे ही उस परमाणु में कम्पनात्मक गति, वर्तुलात्मक गति की अपेक्षा अधिक हो जाती है। यही गति का इतिहास है जो स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देता है कि जीवन की स्थिरता और उसकी निरंतरता को "परिणाम का अमरत्व" व्याख्यायित कर देता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्थिरता इकाई की सम्पूर्णता में होते हुए उसकी निरन्तरता को बनाये रखना एक अनिवार्य स्थिति होने के कारण विकास के इतिहास में कम्पनात्मक गति का महत्व अपनें आप में स्पष्ट हो जाता है। इसी क्रम में जड़ प्रकृति में केवल परावर्तन होता है। चैतन्य प्रकृति में परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन दोनों होता है।

चैतन्य प्रकृति में विशेषकर ज्ञानावस्था के मनुष्य में परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन प्रक्रिया स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है। मानव संचेतना में भी पांचों शक्तियों की अभिव्यक्ति होने की संभावना रहते हुए संचेतना का पहचानने एवं निर्वाह करने के क्रम में नित्य गतिशील होना पाया जाता है यही इसका निराकरण हो जाता है कि परावर्तनपूर्वक प्रत्यावर्तन में समाधान अपेक्षित तथ्य हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति में प्रयोगपूर्वक व्यवहारपूर्वक और अनुभवपूर्वक तभी सिद्ध हो जाता है जब पहचानने एवं निर्वाह करने में साम्यरस्यता हो जावे। यही समाधान का स्वरूप है तथा इसकी निरन्तरता होती है।

"श्रम जीवन सत्ता में अविभाज्य" आयाम हैं। श्रम स्वयं बल के बराबर में होता है।"

प्रत्येक स्थिति और अवस्था में प्रत्येक इकाई में बल संपन्नता समान है। यह समानता विकास के क्रम में आचरण के रूप में मिलती है। फलतः विकास होता है। बल सम्पन्नता स्वयं नित्य और स्थिर होने के कारण बल,रूप से अविभाज्य होना स्वाभाविक हुआ। इसलिये प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य रूप में विद्यमान रहते हैं। बल प्रत्येक इकाई में धर्म और स्वभाव के रूप में, गति स्वभाव और गुण के रूप में और परिणाम रूप तथा अमरत्व के रूप में वर्तमान है। मूलतः बल आकर्षण बल ही है। यह सत्ता में भीगा रहनें का द्योतक है। इकाई के रंग-रंग में बल सम्पन्न होने के कारण श्रम की नित्यता अपने आप स्पष्ट हो गयी। इससे व्याख्यायित हो जाता है कि प्रत्येक इकाई प्रत्येक स्थिति में श्रमशील है। श्रम निरन्तर विश्राम के अर्थ में ही हुआ करता है। विश्राम का भासाभास इकाई की स्वभावगति में होता है। जैसे-जैसे नैसर्गिकता और वातावरण इकाई को अपने स्वभावगति में रहने में हस्तक्षेप करता गया, वैसे–वैसे ही इकाई वातावरण और नैसर्गिकता के हस्तक्षेप से अथवा हस्तक्षेप के प्रभाव से मुक्त होने की क्षमता, योग्यता और पात्रता को उपार्जन करने की आवश्यकता स्वभाव सिद्ध हुई। क्योंकि अस्तित्व में किसी का नाश होता नहीं, इस कारण स्वभावगति में आकर विकसित होना ही है। इस प्रकार श्रम विश्राम के लिए अविरत प्रयासरत रहना अस्तित्व में अविभाज्य रूप में वर्तमान है। इससे पता चलता है कि यह समाधान की अवधि तक बल का प्रयोग अर्थात् श्रम का प्रयोग

होता ही है क्योंकि वातावरण और नैसर्गिकता के दवाव को सहना है या सहने योग्य क्षमता को उपार्जन करना है। अन्ततोगत्वा स्वभावगति में आकर विकसित होना है, गठनपूर्ण होना है। गठनपूर्णता के अनन्तर श्रम और गति दोनों अक्षय होने के कारण अक्षयशक्ति सम्पन्नता चैतन्य इकाई में एक स्वाभाविक स्थिति हो जाती हैं। ऐसे अक्षयशक्ति सम्पन्नतावश ही ज्ञानावस्था के मनुष्य में सचेतना का परावर्तन और प्रत्यावर्तन क्रिया सम्पादित होना एक स्वाभाविक स्थिति है। इसी परावर्तन, प्रत्यावर्तन क्रम में पहचानने और निर्वाह करने की साम्यरस्यता में, जाने हुए को मानने और माने हुए को जानने की स्थिति में प्रत्येक मनुष्य समाधानित होनें और उसकी निरन्तरता की संभावना उदितादित होने की व्यवस्था स्पष्ट है। प्रत्येक इकाई में बल सम्पन्नता ही मूल चेष्टा का कारण है क्योकि शक्ति के विना वल का परिचय वल के बिना शक्ति का परिचय साप में नहीं होता। इसी प्रकार मूल चेष्टा के विना ऊर्जा का परिचय और ऊर्जा के विना मूल चेष्टा नहीं होती सम्पर्क इकाई नित्य क्रियाशील होनें के कारण क्रिया के मूल में निरपेक्ष ऊर्जा, साम्य सत्ता अपने आप नित्य प्राप्त है। इसका कारण यही है। साम्य ऊर्जा न हो ऐसा कोई स्थान नहीं है। साथ ही साम्य ऊर्जा में सम्पूर्ण प्रकृति ओत–प्रोत है। इसीलिए ऐसी ऊर्जा में सम्पृक्तता स्वयं वल सम्पन्नता, वल सम्पन्नता स्वयं मूलचेष्टा, मूल–चेष्टा स्वयं क्रिया, क्रिया स्वयं श्रमगति परिणाम स्वयं विकास और इसकी निरन्तरता है। इसी क्रम में प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक इकाई के एक दूसरे को पहचानने की व्यवस्था है।

पदार्थावस्था में तात्विक क्रिया में परस्पर अंश की निश्चित दूरियां स्वयं उनके परस्परता की पहचान को प्रकाशित करता है। साथ ही भौतिक और रासायनिक वस्तुओं का संगठन भी परस्पर अणुओं की पहचान का द्योतक सिद्ध हो जाता है। प्राणावस्था में रासा–यनिक अणुएं प्राणकोशिकाओं की पहिचान का ही द्योतक है। यह बीज–वृक्ष न्याय पूर्वक सम्पादित होते हैं। जीवावस्था में जड़ चैतन्य प्रकृति का प्रारंभिक प्रकाशन है, जिसमें से शरीर रचना जड़–प्रकृति का स्वरूप होनें के कारण वंशानुषंगी सिद्धांत पर आधारित रहता है। साथ ही जीवन संचेतना जीवावस्था में अध्यास के रूप में प्रभावित रहता है। अध्यास का तात्पर्य परम्परागत कार्यकलापों और विन्यासों को गर्भावस्था से ही स्वीकारने के क्रम में गुजरते हुए जन्म के अनन्तर उसे अनुकरण करने की प्रक्रिया से है। जैसे गाय की सन्तान गाय जैसे कार्यकलापों को करते हुए देखने को मिलता है, इसी प्रकार सभी प्रजाति के जीवों में स्पष्ट है। ज्ञानावस्था में मानव जड़ चैतन्य का संयुक्त प्रकाशन होते हुए मनुष्य शरीर भी प्रधानतः वंशानुषंगी होता है, साथ ही पूर्णतया संचेतना पूर्णतया संस्कारानुषंगी होता है। इसका साक्ष्य स्वयं शिक्षा, संस्कार, व्यवस्था, परम्पराएं है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य संस्कारानुषंगी प्रणाली से पहचानने के कार्यकलाप को सम्पादित करता है।

जीवन संचेतना में मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा जैसे अक्षयबल तथा आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभव जैसी अक्षयशक्तियां कार्यरत एवं प्रकाशमान हैं। मानव संचेतना में अन–

वरत कार्यरत अक्षय शक्तियां परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन में स्पष्ट हो जाती हैं। जैसे आशा की पहचान परावर्तन में चयन तथा प्रत्यावर्तन में आस्वादन के रूप में है। वृत्ति की शक्ति का परिचय परावर्तन में सम्प्रेषणा, प्रत्यावर्तन में तुलन के रूप में होता है। इच्छा शक्ति की पहचान परावर्तन में चित्रण के रूप में और प्रत्यावर्तन में चिन्तन के रूप में होती है। बुद्धि शक्ति की पहिचान परावर्तन में संकल्प के रूप में एवं प्रत्यावर्तन में बोध के रूप में होती है। आत्मशक्ति का परिचय परावर्तन में प्रमाणों के रूप में एवं प्रत्यावर्तन में प्रामाणिकता के रूप में होता है। शक्तियों का अर्थात् चैतन्य शक्तियों का परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन पहचानने एवं निर्वाह करने के अर्थ में सार्थक सिद्ध होता है। पांचों अक्षयशक्तियों का परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन जीवन की एक अनुस्यूत क्रिया होने के कारण यह क्रिया स्वयं जीवन संचेतना के नाम से अभिहित है। इसी क्रम में संचेतना अपनी परावर्तन क्रिया में रूप और गुणों को पहचानती है। प्रत्यावर्तन में निर्वाह करती है। इससे स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण भौतिक और रासायनिक संसार परावर्तन के क्रम में इन्द्रियसन्निकर्षपूर्वक पहचानने को मिलता है। जबकि मूल्यऔर अस्तित्व अथवा स्वभाव और धर्म प्रत्यावर्तन में ही पहचानने में आता है। फलतः इसे निर्वाह करने की प्रणाली अपने आप समीचीन होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भौतिक संसार का निर्वाह एवं बौद्धिक संसार का निर्वाह एवं पहिचान संज्ञानशीलता एवं संवेदनशीलता की सन्तुलित पध्दति से है। पहिचाननें और निर्वाह करने की स्थिति समाधान के अर्थ में सार्थक होती है।

अस्तित्व में–से– के लिए ही सम्पूर्ण अध्ययन है क्योंकि अस्तित्व समग्र ही स्थिति में नित्य वर्तमान है। अस्तित्व न घटता है न बढ़ता है। इसीलिए अस्तित्व में–से–के लिए मनुष्य अध्ययन करने के लिए बाध्य है क्योंकि यह अध्ययन मानव को अपने जीवन जागृति का साक्ष्य प्रस्तुत करने के क्रम मे अपरिहार्य है। फलतः प्रामाणिकता, प्रमाण और समाधान की स्थिति के लिए तत्पर होना पड़ा। इसी क्रम में निर्भ्रमता की अभिव्यक्ति है। इसकी संप्रेषणा भी होती है। यहीं मानव परम्परा की गरिमा और सामाजिक अखण्डता का सूत्र है। यही शिक्षा व्यवस्था और चरित्र में सामरस्यता के स्वरूप को स्पष्ट करता है। यही अनुभवपूर्ण सह–अस्तित्व ही विचारशैली एवं जीने की कला के लिए आवश्यक हैं।

अस्तित्व अस्तित्व में, सह–अस्तित्व सह–अस्तित्व में, विकास विकासक्रम में जीवन घटना और पद, जीवनघटना और पद में जागृति, जीवन जागृति में परावर्तन व प्रत्यावर्तन, परावर्तन व प्रत्यावर्तन क्रम में अस्तित्व में अनुभूति, अस्तित्व में अनुभूति क्रम में स्थिति सत्य व वस्तुस्थिति सत्य और वस्तुगत सत्य में मनुष्य के निर्भ्रम होनें की व्यवस्था है। यही नियतिक्रम व्यवस्था है। अनुभव वल को व्यक्त करने के क्रम में विचारशैली एवं जीने की अपने आप में जींवन संचेतना में–से–के लिए निर्गमित एवं सम्प्रेषित होती है। यही जीवन वैभव एवं जागृति का साक्षी है। जागृति पूर्वक ही मनुष्य मूल्यों को अभिव्यक्त, सम्प्रेषित एवं मूल्याँकित करता है। यही महिमा जीने की कला को श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर के रूप में प्रकाशित करती है।

जीने की कला का स्वरूप वन जागृति और उसकी महिमा का स्वरूप, स्वयं सम्बन्धों व मूल्यों को पहचानना ही है। इसकी गरिमा का स्वरूप उसके निर्वाह करने में स्पष्ट होता है। यही मानव कुल के सम्पूर्ण आयामों, कोणों, परिप्रेक्ष्यों और दिशाओं में समाधान और प्रामाणिकता की गति है। स्थिति सत्य को सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति के रूप में, वस्तुस्थिति सत्य की दिशा काल, देश के रूप में और वस्तुगत सत्य के रूप, गुण, स्वभाव, धर्म को पहचानने व निर्वाह करने की व्यवस्था मनुष्य में जागृति पूर्वक सिध्द हो जाती है। प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव धर्म अविभाज्य वर्तमान हैं। परस्पर इकाई अथवा परस्पर ध्रुवों के आधार पर ही दिशा, देश स्पष्ट होता है। साथ ही क्रिया की अवधि में काल गणना होती है।वस्तु की पहचान आकार, आयतन, घन के रूप में,गुण की पहचान सम, विषम, मध्यस्थ शक्तियों के रूप में, स्वभाव की पहचान शक्तियों के सद्व्यय के रूप में होती है। धर्म की पहचान अस्तित्व पुष्टि, आशा और आनन्द के रूप में स्पष्ट होती है। अस्तित्व स्थिति और इकाई के किसी आयामों को भुलावा देना स्वयं अज्ञान का ही द्योतक होगा। अज्ञान स्वयं समस्या और क्लेश का द्योतक होता है। प्रत्येक मनुष्य जागृति को वर्तता है। जागृति परावर्तन व प्रत्यावर्तन का सफल स्वरूप है। अर्थात् समाधान एवं प्रामाणिकता का स्वरूप है। ऐसी सामरस्यता रूप और गुणों की सीमा में परिपूर्ण नहीं होती। इसीलिए मनुष्य को प्रत्येक इकाई में रूप, गुण,स्वभाव,धर्म,अविभाज्य रूप मे वर्तने की सत्यता को पहचानने की बाध्यता हुई। इसी क्रम में मनुष्य पह-चानने और निर्वाह करने के क्रम को अस्तित्व में विकसित करता आया।

फलतः अस्तित्व समग्र और अस्तित्व में समग्र विकास को पहचानने की आवश्यकता और स्थिति समीचीन हुई। इस प्रकार अस्तित्व समग्र और इकाई नित्य शुभ और सफलता है। शुभ और सफलता का तात्पर्य सर्वतोमुखी समाधान और प्रमाणिकता से है। यह अवसर अथवा ऐसा पावन अवसर प्रत्येक मनुष्य में-से-के लिए समीचीन रहता है क्योंकि जो थी नहीं वह होती नहीं।

जागृति क्रम में ही मनुष्य अथवा प्रत्येक मनुष्य अपनी क्षमता, योग्यता, पात्रता को सम्प्रेषित एवं अभिव्यक्त करता है। यही प्रकाशमानता का भी तात्पर्य है। प्रत्येक इकाई प्रकाशमान है हीं। प्रकाशमानता स्वयं प्रतिबिम्बिन अनुम्बिन प्रक्रिया और प्रणाली होने के कारण यह प्रत्येक इकाई की स्थिति मे वर्तमान रहता है। क्योंकि अस्तित्व मे ऐसी कोई इकाई नहीं है जिसका कोई वर्तमान न हो। जबकि मनुष्य अस्तित्व में अविभाज्य इकाई होने के कारण इनका वर्तमान स्थिति सहज सिद्ध है। मानव में अपनी गरिमा, महिमा और वैभव को परस्परा का स्रोत बनाए रखने के क्रम में जागृति, उत्प्रेरणा समीचीन रहती ही है। इसलिए जागृति पूर्वक ही मनुष्य में सामाजिकता को पहचानने और मानवीयता को चरितार्थ रूप देने की अनिवार्यता सतत विद्यमान है। अस्तु मानव सह-अस्तित्व को प्रकाशित करना ही समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद और अनुभवात्मक आध्यात्मवाद की व्याख्या का स्वरूप है। इसका नित्य स्रोत मध्यस्थ सत्ता, मध्यस्थ क्रिया और मध्यस्थ जीवन की महिमा ही है जो स्वयं मध्यस्थ दर्शन का स्वरूप है। इससे ही अभ्युदय(सर्वतोमुखी विकास)अध्ययन सुलभ,

व्यवहार सुलभ, प्रयोग सुलभ एवं अनुभव सुलभ होने का सम्पूर्ण तथ्य आपके सम्मुख प्रस्तुत है ।

भूमिः स्वर्गगताम्यातु, मनुष्योयातुदेवताम् ।
धर्मो सफलताम् यातु, नित्यंयातु शुभोदयम् ॥

॥ ॐ ॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

„ज्ञानात्मनोर्विजयते"

अस्तित्व में परमाणु का विकास

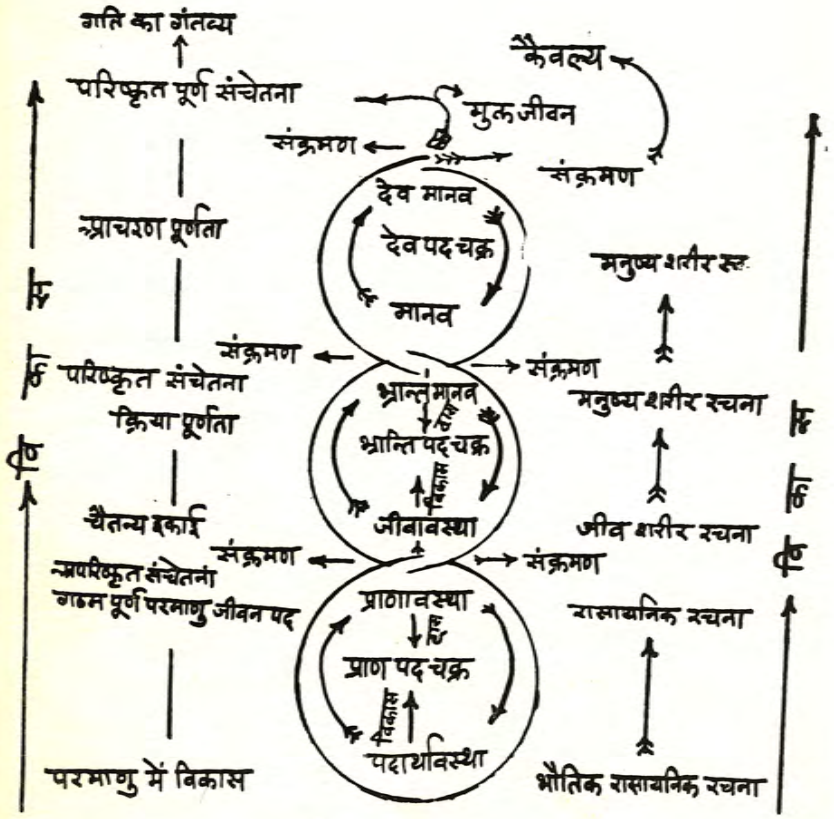

अस्तित्व में सहअस्तित्व

अस्तित्व में परमाणु का विकास

मानव अस्तित्व में ही कार्य, व्यवहार, विचार और अनुभव करने के लिये बाध्य है। अस्तित्व में,अस्तित्व के अतिरिक्त समझने सोचनें, कार्य–व्यवहार अथवा अनुभव करने का कोई आधार नहीं होता, क्योंकि अस्तित्व से अधिक सभी कल्पनायें भ्रम ही होती हैं। भ्रम का तात्पर्य सत्य सा प्रतीत होते हुए सत्य न होना है। अस्तित्व सत्ता में अर्थात् अरूपात्मक अस्तित्व में सम्पृक्त प्रकृति (रूपात्मक अस्तित्व) है।

अरूपात्मक अस्तित्व की पहिचान–

अरूपात्मक अस्तित्व स्वयं में निरपेक्ष ऊर्जा के रूप में वैभवित है। यह गति, तरंग विहीन स्थिति में है। साथ ही सर्वकाल में एक सा विद्यमान, भासमान और बोध व अनुभवगम्य है। इसी सत्यतावश अरूपात्मक अस्तित्व मूल रूप में साम्य ऊर्जा,परम ऊर्जा अथवा निरपेक्ष ऊर्जा के अर्थ में नित्य विद्यमान है। यही निरपेक्ष शक्ति और बल है।

"सत्ता स्थितिपूर्ण है। सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति स्थितिशील है।" सत्ता में स्थितिपूर्ण होने की सत्यता उसकी व्यापकता से सिद्ध होती है क्योंकि अरूपात्मक अस्तित्व न हो, ऐसा कोई स्थान और काल सिद्ध नहीं होता।

सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाइयों का समूह है। इकाई का तात्पर्य छः ओर से सीमिति पदार्थ पिण्ड से हैं। प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। क्योंकि परमाणु में ही विकास और ह्रास सिद्ध होता है। परमाणुओं का, निश्चित गतिपथ सहित, अस्तित्व में होना पाया जाता है। ऐसे गति–पथ के सभी ओर अरूपात्मक

अस्तित्व दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि अरूपात्मक अस्तित्व में ही सम्पूर्ण रूपात्मक अस्तित्व सम्पृक्त एवं ऊर्जामय है। प्रत्येक इकाई में ऊर्जामयता का साक्ष्य परमाणु के पूर्व–रूप में और परमाणु के पर–रूप में परस्पर मिलने का आधार सिद्ध हुआ है। साथ ही उसकी नित्य क्रियाशीलता उसे स्वयं–सिध्द करती है। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इस अनन्त प्रकृति की प्रत्येक इकाई अपने स्वरूप एवं गति में शून्याकर्षण की स्थिति में रहती है। परस्परता के फलस्वरूप इनमें सापेक्ष शक्तियां स्पष्ट होने लगती हैं।

रूपात्मक अस्तित्व की पहिचान–

प्रकृति अनन्त इकाइयों का समूह है। प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। प्रत्येक इकाई अपनी परमाण्विक अवस्था में सचेष्ट है, क्योंकि सत्ता में सम्पृक्त होनें के कारण उसे ऊर्जा प्राप्त है। प्रकृति में ऐसी कोई इकाई या अंश नहीं हैं जो ऊर्जामय न हो। इसी कारणवश प्रत्येक इकाई क्रियाशील है। यह क्रियाशीलता प्रत्येक इकाई में श्रम(बल), गति(सापेक्ष शक्ति), और परिणाम (रूप) के रूप में दिखाई देती है।

इकाईत्व -।- ऊर्जामयता = क्रियाशीलता

इकाई से तात्पर्य छः ओर से सीमित पदार्थ पिंड को प्रकाशमानता -।- परावर्तन से है।

इकाई और ऊर्जामयता का वियोग कभी नहीं होता। इसी सत्यतावश क्रियाशीलता निरन्तर देखने को मिलती है। इसीलिये सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति, सत्ता में स्वाभाविक रूप से गर्भित होने के कारण, सत्ता में अनुभव–पर्यन्त विकास के लिये बाध्य है। क्योंकि सत्ता स्थिति पूर्ण है। प्रकृति पूर्ण में गर्भित है। इसीलिये पूर्णता के लिये प्रवर्तन होना अस्तित्व सहज सिध्द हुआ।

क्रियाशीलता स्वयं सम, विषम एवं मध्यस्थ शक्तियों के रूप में गण्य होती है। सम, विषम शक्तियां परस्परता में आवेश के रूप में देखी जाती है। उसे सामान्य बनाना मध्यस्थ क्रिया का कार्य है। इसे हम छिपी हुई ऊर्जा के नाम से जानते हैं। इस प्रकार यह सिध्द होता हैं कि सम, विषम शक्तियाँ,कार्यऊर्जा केरूप मे, मध्यस्थ शक्ति छिपी हुई ऊर्जा के रूप में प्रकृति में नित्य वर्तमान हैं।

आवेशित गति को अधिकतम आवेशित कर किसी प्रणाली के द्वारा स्वेच्छात्मक रूप में क्रिया करा ही आज विज्ञान का आधार है। ऐसी घटना, अर्थात् आवेशों पर आधारित होने की मानसिकता इसीलिये हुई कि मध्यस्थ क्रिया और उसकी महिमा को आज तक पहिचाना नहीं गया। धन–ऋणात्मक आवेशों में ही सापेक्षता सिद्ध होती हैं। यही अधिक और कम का भी अर्थ है। अधिक और कम, दोनों पूर्ण नहीं होते और इसी कारण स्थिर नहीं होते। फलतः मध्यस्थ शक्ति ऋण एवं धन आवेशों(शक्तियों)को सामान्य बनाने के लिये सतत कार्य करती रहती हैं, क्योंकि मध्यस्थ–शक्ति (क्रया) का लक्ष्य पूर्णता है। इसका साक्ष्य पूर्णता और उसकी निरन्तरता है। इसी कारण प्रत्येक इकाई (परमाणु) का वर्तमान पूर्ण होने के क्रम में ही व्यवस्था अथवा नियति–क्रम स्पष्ट है। यही अस्तित्व में विकासक्रम और विकास का प्रकाशन है।

"विकास परमाणु में होता है।" प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु है। प्रत्येक गठन में एक से अधिक अंश होते हैं। प्रत्येक परमाणु अपने गतिपथ सहित इकाई है। ऐसा गतिपथ स्वयं गठन

और गति के आकार को स्पष्ट करता है। प्रत्येक परमाणु में तब तक प्रस्थापन और विस्थापन होता रहता है, जब तक गठन-पूर्णता न हो जाये। क्योंकि प्रत्येक परमाणु का क्रिया के रूप में होना, प्रत्येक क्रिया में श्रम, गति, परिणाम अविभाज्य वर्तमान होता है। परिणाम अमरत्व के अर्थ में, श्रम विश्राम के अर्थ में, गति गन्तव्य के अर्थ में अपने आप विकास का आधार होता है। यही आधार विकास के क्रम को स्पष्ट करता है। जैसे प्रत्येक परमाणु का अपने ऋण घनात्मक स्थिति में आवेशित होना और उसमें छिपी हुई ऊर्जा द्वारा उन आवेशों को सामान्य बनाना निरन्तर इस लीला को देखा गया है। यहीं इस बात का द्योतक है कि आवेश से मुक्ति स्थिति ही स्वयं स्वभाव गति के रूप में गण्य होती है। ऐसे स्वभाव गति की स्थिति में ही प्रत्येक परमाणु में विकास की संभावना अग्निहित हो जाती है। इस उदाहरण से यह समझ सकते हैं कि जब किसी भी वस्तु को तात्विक परिवर्तन के लिये बाध्य किया जाता है, तब उस स्थिति में हमें यह देखने को मिलता है कि जिस परमाणु में प्रस्थापन होता है, वह अपनी स्वभाव गति में रहता है औरजिस परमाणु में विकास होताहै।विकास का तात्पर्य अपरिणामता के ओर है।अपरिणामता की स्थिति तक द्रुत परिणाम शीघ्र परिणाम दीर्घ परिणाम के पदों में परमाणुओं को देखा जाता है। तात्विक स्थिति व ज्ञान यही है। इस प्रकार परमाणु में एक से अधिक अंशों अर्थात् कम से कम दो अंशों से गठित परमाणुओं का योग प्रारंभ होकर कई अंशों से गठित परमाणुओं का होना सिद्ध हो चुका है। प्रकृति में मूल इकाई परमाणु होने के कारण परमाणु में मात्रा, बल और शक्ति का अविभाज्य वर्तमान होना पाया जाता है। अब इसमें ही बल और शक्तियों को हम आकलित करेंगे।

अन्य किसी स्तर, अर्थात् परमाणु की पूर्वावस्था में पदार्थ का जो स्वरूप होता है, उसमें और अनेक परमाणुओं से रचित अणु एवं अण्ड रचित पिण्डों में मात्रा, बल और शक्तियां अस्थिर होने के कारण सही आकलन नहीं हो पाता। यहां अस्थिरता से तात्पर्य वस्तुओं की मात्रा से है। जैसे ही एक से अधिक परमाणु एकत्रित होते हैं वे अणु का पद पाते है। वे स्वजातीय एवं विजातीय भेद से गण्य हैं. विजातीय परमाणुओं के योग से जो अणु अस्तित्व में होते है. वे रासायनिक रूप में जाने जाते हैं। ऐसे रासायनिक अणुओं की विभिन्न प्रजातियां होती है। ऐसी विभिन्न प्रजातियों के रासायनिक अणु मिलकर विभिन्न रचना तथा रस, उपरस आदि के रूप में प्रकाशित होते हैं। इसी कारणवश प्रत्येक स्थिति में उसका परिणाम, परिवर्तन भावी होनें के कारण इनमें अस्थिरता अवश्यम्भावी हो गई। जिस प्रकार एक पौधा अंकुर के रूप में आरंभ होता है, बढ़ता है और एक दिन मर जाता है, उसे ठीक से देखने पर यह विदित होता है कि अंकुरण के समय से ही उसके बढ़ने में भी कोई स्थिरता नहीं है। इसी के साथ एक व्यक्ति के जन्म को देखें तो यह पता चलता है कि जिस समय शरीर गर्भ में रूप धारण करता है, उसी समय से उसका बढ़ना आरंभ हो जाता है यह स्वयं में एक अस्थिरता का द्योतक है। जब गर्भ से शिशु बाहर आता है, उसी क्षण से उसमें परिवर्तन का क्रम देखने को मिलता है। यह परिवर्तन शिशु, किशोर, कौमार्य, युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्थाओं में गण्य होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रचनायें स्थिर नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि रचनाएं रासायनिक एवं भौतिक सीमावर्ती है यद्यपि रचनाओं

में विकास की लाक्षणिकता अवश्य ही दिखाई पड़ती है तथापि विकासशीलता और विकास केवल परमाणुओं में ही होता है। इसीलिए रचना विकास सिद्ध नहीं होती ।

में विस्थापन होता है, वह आवेशित गति में होता है । आवेश की किसी पराकाष्ठा में परमाणु में से कुछ अंशों का विस्थापन होता है, वही अंश उस परमाणु में जो स्वभाव गति में रहता है उसमें प्रस्थापित होता है । फलतः जिसमें विस्थापन होता है, उसमें ह्रास की गणना होती है और जिसमें प्रस्थापन होता है, उसमें विकास होता है अथवा समृद्ध होता चला जाता है । इसी क्रम में, परमाणु के गठन में जितने भी अंशों के समाने की आवश्यकता है, अथवा संभावना है, वह पूर्ण होते तक, उसमें प्रस्थापन के साथ विस्थापन की संभावना भी बनी रहती है । इस प्रकार यह सिध्द हो जाता है कि गठनपूर्णता पर्यन्त प्रत्येक परमाणु में प्रस्थापन और विस्थापन अवश्यम्भावी है । अपरिणामता तब सिध्द होती है, जब गठनपूर्णता हो जाती है । यही परिणाम (रूप) के अमरत्व का तात्पर्य है । परमाणु के विकास के क्रम में यह प्रथम सफलता है । इस स्थिति में इस परमाणु में किसी भी अंश का प्रस्थापन या विस्थापन किसी भी प्रक्रिया द्वारा नहीं हो पाता। इस सत्यता वश वह परमाणु अक्षय शक्ति सम्पन्न हो जाता है । यही चैतन्य पद अथवा चैतन्य प्रकृति है । इस प्रकार अपने आप में स्पष्ट हो जाता है कि गठनपूर्णता पर्यन्त जड़ प्रकृति एवं गठनपूर्णता के अनन्तर चैतन्य प्रकृति का स्वरूप वभवित होता है ।

जड़ शक्तियों के रूप में जितना भी सापेक्ष शक्तियां पहिचानने में आयी, वही गठनपूर्णता के उपरान्त अपनी अक्षयता के कारण चैतन्य शक्तियों के रूप में वर्तमान होती हैं, क्योंकि सिद्धांत है– "जो थी नहीं वह होती नहीं ।" जड़ शक्तियां और बल पाँच प्रकार से हैं । गठनपूर्णता के उपरान्त ये शक्तियां और बल ही चतन्य रूप में होते हैं । इन पांचों शक्तियों का विवरण एवं आपस में सम्बन्ध तालिका संख्या–१ में दिया गया है।

"सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाइयों का समूह है ।" प्रकृति में मूल इकाई परमाणु के रूप में जानी जाती है । इसी में विकास स्पष्ट होता है । विकास के क्रम में ही सम्पूर्ण शक्ति और बल वातावरण और नैसर्गिकता–पूर्वक कार्य–कलाप करते हुए देखे जाते है । प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु है । प्रत्येक गठन में एक से अधिक अंशों का होना पाया जाता है । अंशों की संख्या–भेद से परमाणुओं में वैविध्यता है । इसी क्रम में अथवा इन्हीं तथ्यों के आधार पर परमाणु में ही विकास होना स्पष्ट होता ।

वातावरण और नैसर्गिकता, प्रत्येक इकाई के लिये अपरिहार्य होने के कारण निष्प्राण और सप्राण कोशिकाएं परिवर्तन के लिये बाध्य हैं । सप्राण कोशिकाओं का इतिहास देखने से पता चलता है कि मूलतः पूर्व में कहे गये वातावरण और नैसर्गिकता के दबाव में आये हुए एक रासायनिक अणु का प्राण कोशिका के रूप में अव–तरित होना पुनः उसी का स्वयं दो भागों में विभक्त होना, तथा फिर दोनों मिलकर उनके जैसे और कोशिकाओं का निर्माण करने की क्रिया रचनाओं के रूप में प्रकाशित हुई । इसको देखने पर

यह वास्तविकता समझ में आती है कि मूलतः एक ही कोशिका एक ही प्रजाति की होते हुये इस एक कोशिका के लिये वातावरण और नैसर्गिकता के अनुकुल सिद्ध हुआ था, वही पुनः इसके रहा। फलतः विभिन्न प्रकार की रचनाओं के साथ–साथ विभिन्न बीज की व्यवस्था भी होती आयी। यही वनस्पति जगत में बीजानुषंगीय और जीव तथा मानव जगत में वंशानुषंगीय रचना की महत्ता है। इसी वैभव के आधार पर अध्ययन करने का प्रयास अनवरत हुआ है।

बीज के मूल में एक ही प्रजाति की प्राण कोशिका की गवाही मिलती है। प्राण कोशिका और निष्प्राण कोशिकाओं को देखने से यही पता चलता है कि निष्प्राण कोशिकाओं में श्वसन क्रिया नहीं होती। जबकि प्राण कोशिकाओं में श्वसन क्रिया होती है। इसी श्वसन क्रिया के आधार पर ही प्राण कोशिकाओं की रचना को पहिचाना जाता है। वही रसायन जिसे प्राण कोशिकाओं में देखा गया, दोनों में समान होते हुए भी निष्प्राण कोशिकाओं में श्वसन क्रिया नहीं पायी जाती। इस प्रकार प्राण कोशिकाओं और निष्प्राण कोशिकाओं की रचना और क्रिया को स्वयं मौलिक रूप में अस्तित्व में पाया जाता है। इसके तीन प्रधान कारक तत्व सिद्ध होते हैं। प्रथम–वे अणु, जो प्राण कोशिकाओं के रूप में कार्यरत हैं, जिसका मूल द्रव्य रूप (रासायनिक गठन) है, द्वितीय वातावरण और तृतीय–नैसर्गिकता है। नैसर्गिकता का तात्पर्य, जिस विधि से उसी इकाई पर दवाव पड़ा हो, उससे है। वातावरण का तात्पर्य इकाई पर प्रभावित दवाव से है। इस प्रकार तीनों कारक तत्व

स्वयं स्पष्ट हैं। वंशानुषंगीयता के क्रम में बीजों के आधार पर रचना (वृक्ष) को और रचनाओं (वृक्षों) के आधार पर बीजों को पहिचानने की व्यवस्था है। किसी सीमा तक इस क्रम के व्यवस्थित होने का विश्वास किया जाता है। फलतः अध्ययन और अध्यापन का कार्य किया जाता है। बीजों के ऊपर ध्यान दें तो पता चलता है कि उसके स्तूषी (अंकुर का मूल रूप में सम्पूर्ण रचना (वृक्ष) का स्वरूप नियम और संगति–बद्ध रूप में होना पाया जाता है। नियम–बद्ध होने का तात्पर्य यह है कि पूर्व रचनाक्रम का अनुकरण करने की क्षमता का होना। संगति–बध्द का तात्पर्य योग–संयोग को पाकर अंकुरण में प्रवृत्त होने की योग्यता से है। इसी तथ्यवशः प्रत्येक बीज में अनुकूल भूमि और वातावरण को पाकर रचना होने की व्यवस्था रहती है। इस क्रम में इसी पृथ्वी पर अनेक बीज और रचनाएं देखने में आती है। इससे स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम एक कोशिका ही अनेक कोशि–काओं में परिवर्तित होकर रचना के स्वरूप में और उसके उपरांत बीज के रूप में परिवर्तित हुई, वह एक ही प्रजाति की रही है। पुनः विभिन्न मापदण्डों के आधार पर वातावरण और नैसर्गिक दवाव के क्रम में अनेकानेक प्रकार की रचनाएं और बीज इस वर्तमान में धरती पर समृध्द हुए। इस साक्ष्य से जो कुछ भी रचना और बीज का स्वरूप स्पष्ट होता है, वह नैसर्गिकता और वातावरण की वैविध्यतावश पुनः बीजों और रचनाओं में परिवर्तन का कारक हो जाता है। इस प्रकार वंशानुषंगीयता निश्चयता के

स्थान पर अनिश्चयता के साथ झूलती रहती है। इसे मनुष्य शरीर प्रजाति के साथ (विशेषकर) अध्ययन करने के लिये साफ-साफ साक्ष्य रखे हुए हैं। जैसे–चोर का बेटा चोर ही नहीं होता। विद्वान की संतान ने विद्वता का अनुकरण नही किया। जबकि मूर्ख की सन्तान विद्वान भी होती है। इसके यथार्थ वास्तविक और सत्यतापूर्ण कारणों का अनुसन्धान करना हमारी साधना है। "रचना सम्पूर्ण विकास नहीं" "क्योंकि" जो जिससे बना होता है वह उससे अधिक नहीं होता। सम्पूर्ण प्रकृति में केवल प्राण कोशिकाओं और निष्प्राण कोशिकाओं की रचना प्रसिध्द है। इन कोशिकाओं की संयुक्त रचना में भी उतने ही गुण विद्यमान रहते हैं। जैसे–लोहे से बनी हुई छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी रचना लोहे से न कम और न अधिक होती हैं। अधिक–कम का मतलब उनके "त्व" (जैसे लोहे में "लौहत्व") से है। जैसे इसी प्रकार वृक्षत्व, (लौहत्व) मानवत्व, इत्यादि। "त्व" का तात्पर्य जिस इकाई की जो मौलिकता होतीं है, उससे है। मौलिकता स्वभाव होती है। प्रत्येक इकाई में जैसा पहले कहा गया, गाय, घोड़ा आदि में उन उन के स्वभाव को कम से कम उन उन रचनाओं के आयु पर्यन्त स्थिर रखने के क्रम में ही वंशानुषगीयता स्पष्ट होती गयी। यह एक विलक्षण स्थिति सम्मुख होती है कि इस धरती पर मनुष्य के अतिरिक्त सभी रचनाओं (अवस्थाओं) में पदार्थावस्था, प्राणावस्था एवं जीवावस्था में देखने पर पता चलता है कि लोहा जब तक रहता है तब तक उसके "त्व" में अर्थात् लोहत्व में वैपरीस्यता नहीं होती। उसी भांति आम बाघ, भालू, गाय आदि में भी वैविध्यता नहीं होती।

जबकि मनुष्य को देखें तो पता चलता है कि इसके विपरीत अर्थात् मानवत्व के विपरीत स्थिति में अधिकतम व्यक्ति प्रकाशित है। तात्पर्य यह कि मनुष्य ही इस धरती पर ऐसी एक इकाई है जो मानवत्व के विपरीत कार्य, व्यवहार, विन्यास करते हुए भी अपने को श्रेष्ठ और विकसित होने का दावा करता है। जैसे अधिकतम शोषण एवं युद्ध में समर्थ व्यक्ति, परिवार समाज अथवा राष्ट्र को विकसित समझा जा रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने "त्व" को वंशानुषंगीयता में खोजने के अरण्य में भटक गया है, या मिटनें की तैय्यारी में आ गया है। मनुष्य का वर्चस्व वंशानुषंगीयता में उज्जवल एवं अनुकरण होने की व्यवस्था होती तब क्या होता ? या तो वंशानुषंगीयता के समर्थक कहलाने वालों के अनुसार, मानव के पूर्वज जो बन्दर थे, वे मानव क्यों बन गये? बदल क्यों गये ? या तो बदलना विकास समझ लें। इसी प्रकार, पूर्व पीढ़ी का ज्ञान दूसरी पीढ़ी को बिना पढ़े क्यों नहीं आता ? यह उन मनीषियों के लिए, जो "त्व" के सम्बन्ध में विश्वास रखते हैं, विचार करनें का एक मुद्दा है। पदार्थावस्था परिणामकारिता के साथ, अथवा परिणाम बीज के रूप मे देखी जाती है, क्योंकि पदार्थ में मात्रात्मक परिवर्तन के बिना गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता और पदार्थावस्था में जो कुछ भी तात्विक परिवर्तन है, वह सब किसी न किसी पद के अर्थ को स्पष्ट करता है। ऐसा प्रत्येक पद विकास के क्रम में कड़ी के रूप में दृष्टव्य है। यह कड़ी स्वयं ही विकास का साक्ष्य है। इस प्रकार पदार्थावस्था में जितनी भी सख्या में तात्विक रूप की व्यवहारिक व्यवस्था है, वह स्वयं में स्थिर और निश्चित है। जब वह पदार्थ प्राणावस्था में होता है, उसे हम विकास की संज्ञा देते हैं। अपेक्षाकृत अर्थात् पदार्थावस्था की अपेक्षा में प्राण कोशिकाओं की जाति प्रजाति कम

होने से है। दूसरी, वंशानुषंगीयता, बीजानुषंगीयता में गण्य हो जाती है। पदार्थावस्था में से प्राणावस्था अपनी मौलिकता सहित वैभवित होनें के पश्चात् ही, इसका ह्रास पुनः पदार्थावस्था मे परिवर्तित होने की वाध्यता होती है।

इसी कारणवश प्राणावस्था, पदार्थावस्था की अपेक्षा विकसित हुई सी दिखते हुए भी पदार्थावस्था की अपेक्षा में उसकी स्थिरता और निश्चयता घट जाती है, जबकि संक्रमित विकास यदि होता तो पदार्थावस्था से प्राणावस्था में स्थिरता और निश्चयता अधिक उजागर होती थी, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। वल्कि पदार्थावस्था की अपेक्षा में प्राणावस्था की वैविध्यता घट गयी।

जीवावस्था को देखें तो प्राणावस्था से उसमें कम वैविध्यता दिखाई पड़ती है। साथ ही यह देखने को मिलता है कि नैसर्गिकता और वातावरण के दवाव में आकर जो वंशानुषंगीयता की स्थिरता रही है, उसको वह वदल देता है। जैसे, कुत्ता, विल्ली, गाय आदि पशु मनुष्य के नैसर्गिक दवाव में आकर अपने वंशानुषंगी कार्य-व्यापार से भिन्न कार्य-कलाप करने लगते हैं। इससे पता चलता है कि प्राणावस्था से जीवावस्था में वंशानुषंगीयता की अस्थिरता अथवा अनिश्चयता वढ़ गई तथा वैविध्यता घट गई।

मनुष्य को देखें तो पता चलता है कि मनुष्य में वैविध्यता नहीं के वरावर रह गई। किन्तु इनमें वंशानुषंगीय अस्थिरता चरमावस्था में पहुंच गई। इससे लिए पर्याप्त साक्ष्य पहले ही "त्व" के सम्वन्ध में दिय जा चुके है। आश्चर्य की वात है कि मनुष्य फिर भी स्वयं को वंशानुषंगीयता का दावेदार, प्रणेता मान

रहा हैं। यह कितनी दयनीय स्थिति है? जिन वंशानुषंगीयता के आधार पर प्रतिवर्ष ही अनेक निवन्ध, प्रवन्ध तैयार हो रहें है ये कहां तक मानवोपयोगी है।

"विकास के क्रम में ही पदों की गणना है"

पदार्थावस्था एक पद है, जिसमें परमाणुओं का तथा विभिन्न प्रजातियों के परमाणुओं के कार्य विन्यास को देखा जाता है जो भौतिक और रासायनिक रूप में परिगणित होते हैं। यही सम्पूर्ण पदार्थो की वैविध्यता के मूल में तथ्य है।संपूर्ण पदार्थो में सजातीय विजातीय परमाणुओं का योग होता (मिलन) ऐसे योग के मूल में प्रत्येक परमाणु में, अपने आप में एक-दूसरे से मिलने का अथवा जुड़ने का वल समाहित रहता है। ऐसे परमाणु में होने वाले गठन के मूल में भी यही तथ्य सिद्ध होता है। अरूपात्मक अस्तित्व में रूपात्मक अस्तित्व सम्पृक्त रहने के फलस्वरूप ही वल-सम्पन्नता की अभिव्यक्ति है। अस्तित्व स्वयं रूप-अरूप की अविभाज्य स्थिति होने के कारण इस वात का प्रमाण है कि सम्पूर्ण रूपात्मक अस्तित्व अरूपात्मक अस्तित्व में घिरा हुआ दिखाई पड़ता है। यह घिरा हुआ स्वयं प्रत्येक इकाई के नियन्त्रण को स्पष्ट कर रहा है, क्योंकि प्रत्येक इकाई अर्थात् अणु-परमाणु और परमाणु में निहित अंश भी परस्पर निश्चित दूरी, जो अरूपात्मक अस्तित्व ही है, ये नियन्त्रित रहते हैं। अर्थात् नियन्त्रण की अवस्था में प्रत्येक इकाई घनावेश अथवा आवेश में नहीं होती है, यही स्वभाव गति है। आवेश में ह्रास होने की संभावना अपनें आप समीचीन होती है, यही आवेश का साक्ष्य है।

जड़–प्रकृति और चैतन्य–प्रकृति इस धरती पर गण्य होते हैं। जड़ प्रकृति में पदार्थावस्था, प्राणावस्था गण्य हैं, चैतन्य प्रकृति में जीवावस्था तथा ज्ञानावस्था गण्य हैं। पदार्थावस्था में परमाणु की पहिचान होती है। इन परमाणुओं की स्थिति ही स्वयं विकास की अभिव्यक्ति है। इसी क्रम में परमाणु विकसित होकर अविकसित परमाणुओं को पहिचानने की योग्यता से सम्पन्न होता है। ऐसे परमाणु चैतन्य पद में होते है। यही विकास की महिमा है। इसी क्रम में चैतन्य प्रकृति अर्थात गठनपूर्णता प्राप्त परमाणु में पांचों शक्तियां और पांचों बल अक्षय रूप में समाहित रहते है। उसकी जागृति पूर्ण अभिव्यक्ति पर्यन्त गुणात्मक विकास के लिए चैतन्य इकाई बाध्य है। नियंत्रण जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति के लिए समान रूप में वर्तमान है। वर्तमान का तात्पर्य अस्तित्व सहित स्थिति और प्रभाव से है। अरूपात्मक अस्तित्व का प्रभाव नियन्त्रण के रूप में प्रत्येक इकाई में प्रभावशील होना ही साक्ष्य है। परमाणु, गठनपूर्णता पर्यन्त एक दूसरे से मिलकर अणु और रचना के रूप में प्रकाशित है।

गठनपूर्णता के अनन्तर परमाणु अपनी गति में होता है जो स्वयं में एक गतिपथ को स्थापित करता है। जबकि जड़ परमाणु का गतिपथ स्वयं उसकी गठन को गठनपूर्णता पर्यन्त प्रकाशित करता है। गठनपूर्णता के अनन्तर गतिपथ सहित परमाणु अपनी विशालता को प्रकाशित करने के क्रम में एक पुर्नगतिपथ की स्थापना करता है जो स्वयं में एक पुंजाकार होता है। जैसे एक रस्सी के छोर में आग लगाकर घुमाने से एक अलातचक्र।

दिखाई पड़ता है, वैसा ही परमाणु जिसने स्थान पर अपना गति चक्र बना लेता है, स्वयं एक पुंज रूप में प्रकाशित होता है। ऐसी चैतन्य इकाई अर्थात् गठनपूर्णता प्राप्त परमाणु में ये विशेषताएं हैं कि वह अक्षय बल और अक्षय शक्ति सम्पन्न होता है।

अक्षय शक्ति बल संपन्नता का तात्पर्य यह है कि गठनपूर्णता के अनन्तर परमाणु में अमरत्व सिद्ध होने के फलस्वरूप उसमें श्रम और गति, दोनों अक्षय हो जाती है। यही स्वाभाविक स्थिति है। इसी सत्यतावश गठनपूर्ण परमाणु में अभिव्यक्त होने वाले पांचों बल, पांचों शक्तियां अक्षय सिद्ध होती है। अक्षयता का अर्थ है क्षय न होना, अर्थात् अक्षुण्ण होना।

चैतन्य प्रकृति के कार्य कलापों में इस अक्षयता का साक्ष्य सिद्ध होता है। और विचार को देखें तो कितनी ही आशाओं और विचारों का उपयोग करने पर वे किसी भी प्रकार घटती नहीं है, इसके विपरीत यह देखने को मिलता है कि आशा और विचारों का उपयोग सन्निकर्ष और नियोजन के रूप में करते करते उन प्रखरता और श्रेष्ठता उजागर होती जाती है। आशा जब किसी वस्तु का चयन करती है अर्थात् उसमें आस्वादनीयता को पहिचानती है, तब चयन क्रिया में प्रवृत्त होती है। आस्वादनीयता को जब तक पहिचानता नहीं, तब तक चयन करने की क्रिया प्रमाणित नहीं होती। आशायें कितनी भी दूर तक और पास तक क्रियाशील रहती हैं, वहां तक सम्पूर्ण क्रियायें आस्वादन को पहिचानने के आधार पर ही स्पष्ट है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जड़ प्रकृति में आस्वादन की पहिचान जो प्रकाशित नहीं हो पाती थी, वह चैतन्य प्रकृति में सर्वप्रथम प्रकाशित हो गई। चैतन्य प्रकृति में मनोबल, आशा–शक्ति के रूप में स्वयं को प्रकाशित करता हैं। वे चयन और आस्वादन की क्रियायें हैं। मनोबल, चैतन्य प्रकृति

अथवा इकाई का एक अविभाज्य वर्तमान है। चैतन्य इकाई से पांचों बल और पांचों शक्तियों को अलग अलग करके देखा नहीं जा सकता। इसी प्रकार जड़ प्रकृति तथा परमाणु में भी पांच बल अविभाज्य वर्तमान हैं। चैतन्य प्रकृति अर्थात् चैतन्य इकाई का जो दूसरा बल वह है वृत्ति बल। इसकी शक्तियां विचार और तुलन के रूप में प्रभावशील होती। तीसरा बल चित्बल (इच्छा बल) है, जिसकी शक्तियां चिन्तन और चित्रण के रूप प्रभावशील होती हैं। चौथा बल, बुद्धि बल है जिसकी शक्तियां बोध और संकल्प में प्रभावशील होती हैं। पांचवां बल, आत्मबल है, जिसकी शक्तियां प्रामाणिकता और समाधान के रूप में है। आत्मबल, स्वभावतः अनुभव का वैभव है। अनुभव ही अभिव्यक्ति में शक्ति अर्थात् आत्म-शक्ति कहलाता है। आत्मशक्ति की पहचान प्रामाणिकता में ही होती है। प्रामाणिकता ही चैतन्य इकाई की जागृति और तृप्ति का साथी है। विकास का लक्ष्य सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभूत होने से है। अनुभूति स्वयं जागृति का स्वरूप है। जागृतिपूर्वक ही पहिचान और निर्वाह करने की व्यवस्था है। पहचान और निर्वाह ही प्रामाणिकता है। यही अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

पदार्थावस्था के अणुओं में बाह्य दबाव के बिना संकोचन अथवा प्रसारण सिध्द नहीं होता है, जबकि प्राणावस्था की प्रत्येक प्राण-कोशिका में संकोचन, प्रसारण, स्पन्दन स्वभाव के रूप में होना पाया जाता है। यह अणुओं में होने वाली स्पंदनशीलता ही प्राणावस्था की स्पष्ट पहिचान है। पदार्थावस्था से प्राणावस्था, रचना के अर्थ में विकास सा प्रतीत होता है। जब तक उस अवस्था में रहता है तब तक उसका प्रयोजन भी सिध्द हो जाता है, जैसे

प्राणावस्था की प्रत्येक कोशिका जितनी भी बड़ी रचनाएं होती है, उसके प्रतिरूप में होती हैं। तात्पर्य यह कि जिस रचना में जो कोशिका का अस्तित्व हैं, वह उस रचना के सम्पूर्ण आकार का सूक्ष्म रूप है। इस प्रकार देखने पर पता चलता है कि प्रत्येक कोशिका जिस रचना में भागीदारी निभा रही है, उसकी प्रत्येक कोशिकाएं समान हैं। रचना के विभिन्न अंशों में अवस्थित कोशिकाएं उसी उसी स्थान में होने वाली क्रिया को सम्पादित करती है। यही साक्ष्य है कि कोशिकाएं रचना के सम्पूर्ण रूप का प्रतिरूप है। मूल कोशिका जब पदार्थावस्था से प्राणावस्था में परिवर्तित होती है, तब उसमें यह देखने को मिलता है कि पदार्थावस्था की वह कोशिका जो प्राणावस्था में परिवर्तित होनी है, रासायनिक जल के योग में आप्लावित रहती है। ऐसी आप्लावन स्थिति में किसी एक ऊष्मा का दबाव और नैसर्गिकता के प्रभाव के योगफल में उसमें स्पन्दनशीलता आरम्भ हो जाती है। यही विधि पुनः कोशिका से कोशिकाएं निर्मित होने की विधि में भी दिखाई पड़ती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पन्दनशीलता के समय में पवित्र रासायनिक जल, निश्चित रासायनिक अणु, वातावरण और नैसर्गिकता (ऊष्मा) के दबाव के योगफल में प्रत्येक प्राण कोशिका का निर्मित होना, अर्थात् स्पन्दनशीलता में बदल जाना सिध्द हुआ।

कोशिकाएं रचना में, अपने-अपने स्थान पर रहकर अपनी-अपनी निश्चित क्रियाएं करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक पौधे की जड़ में जो प्राण कोशिका कार्यरत है, वह उस स्थान के अनुरूप कार्य करती है। पत्ते में, तने में, फूल में, अवस्थित कोशिकाएं, उन उन स्थानों की निश्चित क्रियाएं करती हुई मिलती हैं। इस प्रकार प्राण कोशिकाएं मूलतः एक ही प्रजाति

की होते हुए, उस रचना के तालमेल की महिमा में ही अपने कार्य को समर्पित किये रहती है। इनमें अपने आप में कोई व्यतिरेक नहीं होता। व्यतिरेक न होने मात्र से इनकी स्थिरता सिध्द नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक क्षण में एक पौधे में कई कोशिकाएं मर जाती है और इसी क्षतिपूर्ति के लिए, संवेदन के लिए और भी समानधर्मी कोशिकाएं निर्मित होती है। इसी क्रम में संपूर्ण प्राणावस्था की रचनाएं सम्पादित होते रहती है। इनकी परस्परता का तालमेल और सामरस्यता इनका स्पन्दन ही है। यही स्पन्दन एक दूसरे के कार्य के साथ जुड़े रहने की व्यवस्था है। ये संकोचन प्रसारण ही तरंग और दबाव का कार्य करते हुए एक दूसरे के साथ व्यवस्था बनाये रखती है। इस समस्त प्रक्रिया में प्राण कोशिका में होने वाली स्वयं संकोचन की स्थिति में दबाव, प्रसारण की स्थिति में तरंग के रूप में प्रभावशील रहती है। इसी सत्यतावश संपूर्ण प्राणावस्था की इकाई विद्युतग्राही सिध्द हुई।

मात्रा और उसका स्वरूप–

मात्रा, रूप गुण स्वभाव धर्म का अविभाज्य वर्तमान है। कोई ऐसी इकाई नहीं है जिसमें रूप, गुण, स्वभाव, धर्म न हो। मात्रा का मूल रूप परमाणु में ही आकलित होता है क्योंकि परमाणु ही तात्विक रूप में अस्तित्व में प्रकाशमानहैं। उसके पूर्वरूप और पर–रूप में मात्रा को अस्थिरता तात्विकता (परमाणु) के अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। सिध्दान्त है कि जो तात्विक रूप में परमाणु अपनी स्थिति में जितने समय तक रह पाता है, वह उसने समय तक अणु के अथवा परमाणु के पूर्व रूप

में नहीं रह पाता। प्रकृति में परमाणु के अंशों के रूप में, पदार्थ की स्थिति नगण्य रूप में है। कोई भी पदार्थ अधिकतम संख्या में अणु और अणुओं की रचना के रूप में ही मिलता है। इनमें से मात्रा का अध्ययन परमाणु में ही होता है, न कि इसके पूर्व रूप या पर–रूप में। परमाणु का अपने स्वरूप में सम–विषम, मध्यस्थ शक्तियों से सम्पन्न रहने की, नियति क्रम व्यवस्था है। परमाणु में ही सम्पूर्ण बल व्यवहृत होता हुआ देखने को मिलता है। पर–रूप अर्थात् अणु अथवा अणु रचित पिण्डों में मध्यस्थ बल दिखाई नहीं पड़ता। इसी कारणवश परमाणु में ही पांचों बलों का अध्ययन–अध्यापन सुलभ हुआ हैं। मध्यस्थ क्रिया अपने आप में मध्यस्थ बल और शक्ति के रूप में है। इसकी स्थिति परमाणु के केन्द्र में होती है। यह अविरत रूप में, सम–विषम शक्तियों पर नियन्त्रण किए रहता है। चैतन्य प्रकृति और जड़ प्रकृति में मौलिक रूप से यह अन्तर पाया जाता है कि जड़ प्रकृति में परमाणु, अणु और अणु रचित पिण्डों के रूप में प्राप्त होते है, जबकि चैतन्य प्रकृति परमाणु के स्वरूप में ही वर्तमान रहती हैं। चैतन्य परमाणु में ही अक्षय शक्तियां होने के कारण प्रत्येक इकाई अपने में जीवन वैभव और महिमा का अनवरत प्रकाशन करती है। जड़ शक्तियां क्षरणशील होती है और चैतन्य शक्तियां अक्षय होती हैं। इसी तथ्यवश चैतन्य इकाई में परावर्तन और प्रत्यावर्तन स्वाभाविक रूप में होता है।

जड़ शक्तियां	चैतन्य शक्तियां	
	बल	शक्तियां
१. विद्युत–चुम्बकीय बल	१. मन	आशा
२. गुरूत्वाकर्षण बल	२. वृत्ति	विचार
३. सामान्य (क्षीण) हस्तक्षेप	३. चित्त	इच्छा
४. सबल हस्तक्षेप	४. बुद्धि	संकल्प
५. मध्यस्थ बल	५. आत्मा	अनुभूति

मध्यस्थ क्रिया के अनुरूप में ही प्रत्येक इकाई में स्वभाव गति का होना पाया जाता है। परिणामतः उसमें अग्रिम विकास की संभावना और विकास सुलभ हो जाते हैं।

प्रत्येक परमाणु में रूप, गुण,स्वभाव और धर्म वर्तने के कारण ही उनमें ऊर्जा का परिचय होता है। ऊर्जा जब कार्य ऊर्जा के रूप में होती हैं, तभी बलों का परिचय हो पाता है। ऐसी स्थिति के लिए एक से अधिक इकाइयों की परस्परता अनिवार्य सिद्ध होती है। परमाणु अपनी स्थिति में क्रियारत होते हुए मिलता है। परमाणु में निहित बल का परिचय उसकी अपनी ही स्थिति में, उसी के अन्तर्गत होने वाली क्रिया की ही अभिव्यक्ति है। परमाणु की क्रिया स्वभाव गति में अपने आप में, वातावरण विहीन स्थिति में वैसे ही बने रहने की संभावना रहती है। जबकि अनन्त में ऐसी कोई स्थिति नहीं है जिसमें वातावरण और परस्परता न हो। अस्तु प्रत्येक इकाई किसी का वातावरण और प्रत्येक इकाई के लिए अन्य का वातावरण नित्यभावी होने की सत्यता को ध्यान

में रखते हुए परस्पर बलों का परिचय पाने की व्यवस्था है। इसी क्रम में विकास की व्यवस्था है। गठनपूर्णता पर्यन्त परमाणु में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ ही अर्थात् अंशों की संख्या में परिवर्तन होने के साथ ही उनमें गुण परिवर्तन होते हुए देखा जाता है। इस प्रकार मात्रा की गणना मूलतः परमाणु में आकलित होना सिद्ध हुआ और अणु तथा अणुरचित मात्राएं इन्हीं परमाणु के आधार पर होने वाली घटना होने के कारण परमाणु की मात्रा को समझ लेने मात्र से सम्पूर्ण पिण्डों को मात्रा के रूप में समझने का सूत्र, अपने आप में निकल जाता है। परमाणु में होने वाले चारों आयामों का प्रकाशन इस प्रकार होना पाया जाता है :–

१. आकार, आयतन, घन के अर्थ में रूप।
२. सम विषम, मध्यस्थ के अर्थ में गुण (शक्तियां)
३. उद्भव, विभव, प्रलय के रूप में स्वभाव (मौलिकता)
४. अस्तित्व (पुष्टि, आशा) और अनुभूति (आनन्द) के अर्थ में धर्म है।

इस प्रकार जड़ प्रकृति में रूप और गुण, गणित के द्वारा समझ में आता है। स्वभाव व धर्म अस्तित्व में गुण और कारण द्वारा समझ में आते है। धर्म, अस्तित्व में ही नित्य वैभवित रहता है। अस्तु, अस्तित्व में मात्रा की समझ के लिए केवल गणित की भाषा पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई क्योंकि "गणित आंखों से अधिक एवं समझ से कम होता है।" इसीलिए चैतन्य प्रकृति, गणितीय भाषा से व्याख्यायित नहीं हो पाती। इसीलिए हम गुण और कारणात्मक भाषा को भी सीखने के लिए बाध्य हैं।

गुण, घटनाओं के रूप में परस्पर वर्तमान होता हुआ देखा जाता है। जड़ प्रकृति में सम विषयात्मक प्रभाव परस्पर इकाइयों

में पड़ता है और स्वयं के समविषयात्मक आवेशों को सामान्य बनाने के क्रम में मध्यस्थ शक्ति को कार्यरत होना देखा जाता है। कार्य ऊर्जा बढ़ना ही सम–विषम आवेश है। इसी आवेश को सामान बनाने के लिए छिपी हुई ऊर्जा प्रभावित करती है, जबकि चैतन्य प्रकृति में समाधान और प्रामाणिकता के रूप में मध्यस्थ क्रिया प्रभावशील होती है और समाधान तथा प्रामाणिकता ही मानव परम्परा के रूप में वर्तती है। इससे पता चलता है कि चैतन्य प्रकृति में ही मध्यस्थ क्रिया की पूर्ण प्रभावशाली परम्परा होने की व्यवस्था है। इसलिए विकास होता है। स्वभाव और धर्म को कारणकार्य एवं कार्य कारण पध्दति से समझने की व्यवस्था है। स्वभाव प्रत्येक इकाई में अर्थात् जड़ चैतन्यात्मक इकाई में मूल्यों के रूप में वर्तता है। मूल्य प्रत्येक इकाई में स्थिर होता है। धर्म, अविभाज्य होता है। इसी कारणवश मनुष्य में समझने की व्यवस्था है। किसी घटना के मूल के लिए सब आवश्यकीय सघन कारक तत्वों को स्पष्ट कर देना ही कारणात्मक भाषा है। साथ ही प्रभावों को स्पष्ट कर देना ही गुणात्मक भाषा हुई। जैसे–

अव्यवस्था की समझ = दर्द = समस्या = गुणात्मक भाषा।
अव्यवस्था के कारक तत्व की समझ = घटना का अध्ययन = समस्या कारण = कारणात्मक भाषा।

इसी तरह,

व्यवस्था की समझ = सुख = समाधान = गुणात्मक भाषा।
व्यवस्था के कारक तत्व की समझ = घटना का अवयव = नियतिक्रम = समाधान का कारक = कारणात्मक भाषा।

इसे गवाही के साथ ही विकास का अभीष्ट स्पष्ट हो जाता है।

समाधान ही विभव का आधार है। समाधानपूर्वक ही प्रत्येक विकास की कड़ी अपने आप में प्रकाशित होती है। यही समाधान नित्य परम्परा और त्राण तथा प्राण होने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि समाधान के पद में ही विकास और उसकी निरन्तरता का वैभव है।इस प्रकार मध्यस्थ क्रिया का स्वयं व्यावहारिक समाधान के रूप में नित्य प्रभावशील होना ही स्थिति के अर्थ को स्पष्ट कर देता है।समविषमात्मक आवेश निरन्तर समस्या का ही प्रकाशन है। इस तथ्य को हृदयंगम करने पर असंदिग्ध रूप में स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण प्रकृति स्थिति में स्वभाव- गति- प्रतिष्ठा में ही रहती है जो मध्यस्थ क्रिया 'आत्मा' के अनुशासन में होने वाली क्रिया है। यही अनुशासन मध्यस्थ क्रिया बल के रूप में अनुभव, शक्ति के रूप में, प्रामाणिकता होती है। यह चैतन्य क्रिया की अभिव्यक्ति में होने वाला वैभव है। प्रत्येक चैतन्य क्रिया में प्रामाणिकता प्रकाशित होने की संभावना रहती ही है। उन संभावनाओं को सर्व सुलभ, सहज सुलभ बना लेना ही पुरुषार्थ का तात्पर्य है। शिक्षा पूर्वक अथवा प्रबोधन पूर्वक प्रामाणिकता आदान–प्रदान करने की वस्तु है। चैतन्य प्रकृति में ही समाधान की नित्य तृषा का होना पाया जाता है समाधान और उसकी निरन्तरता के अर्थ में ही सम्पूर्ण पदार्थ और सम्बन्ध का निर्वाह हो पाता है। समाधान ही जीवन सन्तुष्टि का स्रोत होने के कारण समाधान और प्रामाणिकता की परम्परा में ही चैतन्य प्रकृति की परम्परा अथवा सम्पूर्ण चैतन्य प्रकृति के तृप्त होने की व्यवस्था है। इस निष्कर्ष पर आते हैं कि चैतन्य प्रकृति में आदान– प्रदान होने वाली, पहिचानने और निर्वाह करने की संयुक्त संप्रेषणा की स्वीकृति, ही बोध के नाम से जानी जाती है। इसी को हृदयंगम कहा जाता है और ऐसा बोध ही, अवधारणा है।

चैतन्य इकाइयों में पाया जाने वाला अक्षय बल और शक्तियों की सामरस्यता (प्रामाणिकता और समाधान) स्वयं की परस्परता में और परस्पर इकाइयों में त्रिकालादाधित साम्य है। ऐसी सामरस्यता सार्वभौम रूप में, हम मानव में प्रामाणिकता और समाधान सम्पन्न होने की व्यवस्था समीचीन है। यही सम्पूर्ण अनुसन्धान, शिक्षा, व्यवस्था, चरित्र और उसकी निरन्तरता का अक्षय स्रोत है। मात्रा विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, मनोविज्ञान, व्यवस्था विज्ञान और व्यवहार विज्ञान के मूल रूप में यही प्रामाणिकता और समाधान ही अक्षय स्रोत, अक्षय त्राण और अक्षय प्राण है।

शिक्षा संस्कार ही बोध और अवधारणा का एकमात्र स्रोत है। ऐसे स्रोत को सार्थक रूप देने, उसमें प्रामाणिकता और समाधान की निरन्तरता को बनाये रखना चैतन्य प्रकृति में, से ज्ञानावस्था की इकाई का दायित्व और वैभव होता है। जड़ प्रकृति में अंशों का आदान– प्रदान होता है। 'परमाणुओं के स्तर में, उसमें से प्रस्थापन जिसमें होता है वह पहले से ही सामान्य गति में रहता है, जिसमें विस्थापन होता है। उसके अनन्तर, वह भी सामान्य गति में होना पाया जाता है। सामान्य गति में होने के लिए, निरन्तर मध्यस्थ क्रिया में बल समाहित रहता ही है, जिसे हम छिपी हुई ऊर्जा कहते हैं।

स्वनियन्त्रण के अर्थ में ही मध्यस्थ शक्ति क्रियाशील होती है नियन्त्रण में ही प्रत्येक जड़ चैतन्यात्मक इकाई सुरक्षित रह पाती है। अर्थात् उसका अस्तित्व यथावत बना रहता है। चैतन्य प्रकृति में नियन्त्रण को समाधान और उसकी निरन्तरता के अर्थ में देखा जाता है। इसी बिन्दु में भौतिकता, बौद्धिकता और आध्यात्मिकता

का अविभाज्य वैभव दिखाई पड़ता है। क्यों कि परमाणु विकास पूर्वक ही जागृत होता है। फलतः समाधान का प्रणेता, उद्गाता और प्रबोधक हो पाता है। इसी के परिणाम स्वल्प प्रबोधनपूर्वक, बोध के रूप में दूसरे में इंगित होना भी व्यवहार मे देखा जाता है। इसीलिए पदार्थ ही निश्चित विकास के पद में जागृत होने, मध्यस्थ क्रिया से "स्व,, का नियन्त्रित होने और मध्यस्थ सत्ता में परस्पर निश्चित दूरी के रूप में संरक्षित रहने की सत्यता अपने आप स्पष्ट होती है। चैतन्य इकाई में मध्यस्थ बल, स्वंय आत्मबल और मध्यस्थ शक्ति ही अनुभव और प्रामाणिकता है। ऐसा जीवन जागृति की स्थिति में जो बोध, जीवन की अविभाज्य उपलब्धि हो जाती है और आध्यात्मिकता अर्थात अल्पात्मक 'अस्तित्व में ओत–पोत रहने का बोध, परस्पर अच्छी दूरी और ज्ञानमयता अर्थात् चेतनामयता के रूप में स्पष्ट होता है। इस प्रकारबौद्धिक, भौतिक और आध्यात्मिकता अविभाज्य वर्तमान हैं।

जीवन–सचेतना में होने वाला अनुभव बल ही बोधपूर्वक विचार शैली में विचार शैली जीने की कला के रूप में परावर्तित होता है। संचेतना में पांचों अक्षय बल तथा शक्तियां निरन्तर कार्यरत रहती है। संचेतना शरीर के माध्यम से प्रकाशमान होने मात्र से शरीर जीवन नहीं होता। संचेतना की अभिव्यक्ति प्रत्येक मनुष्य में होती है। संचेतना पहिचानने व निर्वाह करने के रूप में परिलक्षित है। पहिचानने तथा निर्वाह करने के क्रम में ही जागृति के क्रम में ही अस्तित्व और विकास को पहिचानना बुनियादी आवश्यकता है। जागृति विकास की परम अवस्था है परमाणु में विकास होने की व्यवस्था है। जागृति का तात्पर्य अस्तित्व में अनुभूत होना ही है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति, सत्ता में अनुभूत

होना ही अस्तित्व का उद्देश्य को समझने पर ही विकास की यात्रा भी समझ में आती है। अस्तित्व के सबन्ध में जितना भ्रमित रहेंगे, उतना ही लक्ष्य के संबन्ध में भ्रमित रहेंगे। इसी को दूसरी प्रकार से देखें तो अस्तित्व में निर्भ्रमता ही लक्ष्य के प्रति निर्भ्रम होने का आधार है। इस प्रकार अस्तित्व, लक्ष्य और विकास के सम्बन्ध में निर्भ्रम हो जाना ही विवेक और विज्ञान का प्रयोजन है। इस क्रम में यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता में संपृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभूत होने पर्यन्त विकास के लिए बाध्य होना "अस्तित्व सिद्ध सत्य" हुआ। यह स्वंय जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति का लक्ष्य है। पदार्थ अवस्था से प्राणावस्था बिना दिग्भ्रम के विकसित हुई। जीवावस्था से ज्ञानावस्था के निर्भ्रम होने के क्रम में ही मनुष्य अपने को भ्रमित पाता है। इसका सम्पूर्ण कारण शरीर को जीवन समझना ही है। अक्षय बल एवं शक्ति संपन्न होने के कारण प्रत्येक मनुष्य जीवन-क्षमता की स्थिति में समान है। यह समानता हर स्तर में समन्वय होने पर्यन्त लक्ष्य विहीन होने के कारण, विरोधाभासी प्रतीत होती है। जब विरोधाभासा के चंगुल में मनुष्य एक बार आ जाता है तब विरोध का विरोध और विरोध के दमनकारी कार्यकलापों में प्रवृत्त हो जाता है। जबकि विरोध का विजय ही जागृति का साक्षी है। सम्पूर्ण विरोधाभास केवल अस्तित्व,अस्तित्व में विकास और जीवन केभुलावे का परिणाम है।

जीवन के भुलावेवश ही, अथवा जीवन विद्या का भुलावा अथवा अज्ञात रह जाना ही शरीर को जीवन समझने की विवशता है। तभी हम सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं, शरीर मे होने वाली क्रिया को जीवन का सोना (निद्रा) मान लेते हैं, जबकि ऐसा होता नहीं है। इसका साक्ष्य है कि जड़ चैतन्यात्मक कोई परमाणु निष्क्रिय नहीं होता। अर्थात् सतत् क्रियारत रहती है। चैतन्य क्रिया शरीर की अक्षमता को जानकर इसे चलाने और दौड़ाने की प्रेरणाओं को बन्द कर देती है। फलतः शरीर सोता है। चैतन्य क्रिया में प्रेरणा की अक्षयता स्वभाव सिद्ध होते हुए, शरीर द्वारा जितना कार्य कराना है, अथवा शरीर जितना कार्य करने योग्य है, उतना ही कराता है। इस प्रकार शरीर का सो जाना, जीवन का सो जाना नहीं हुआ। शरीर के लिए आहार, निद्रा आदि क्रियाओं का प्रयोजन सिद्ध होता है। जीवन के लिए मूल्य और मूल्यांकन ही व्यावहारिक प्रयोजन सिद्ध होता है। शरीर निर्वाह ही जीवन तृप्ति नहीं है। जीवन की अनुग्रह बुध्दि से ही शरीर निर्वाह की व्यवस्था हो पाती है, अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते है कि शरीर जीवन नहीं है, जीवन शरीर नहीं है। जीवन नित्य है, जीवन के लिए शरीर एक साधन है और माध्यम हैं।

जीवन में संचेतना का वैभव प्रकाशमान होता है। विकास के क्रम में जितने भी पद देखने को मिलते हैं, जैसे-प्राण पद, भ्रांति पद, देव पद और दिव्य पद-इन पदों में जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति क्रियारत है। इनमें जीवन, संचेतना के रूप में अथवा क्रिया के रूप में अभिव्यक्त रहता ही है। जीवन एक परमाणु के रूप में होते हुए गठनपूर्ण होने के कारण, उसका वैभव, गठनपूर्ण न होते हुए परमाणुओं के सदृश नहीं होता। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते है कि अस्तित्व स्थिर होने के कारण जड़ परमाणु हो विकसित होकर चैतन्य पद में संक्रमित हो जाता है जो किसी भी कारण से पुनः जड़ परमाणु में नहीं बदलता। यही चैतन्य परमाणु, अक्षय बल, अक्षय शक्ति सम्पन्न होनें के कारण अपनी अक्षयता को गुणात्मक विकास और अस्तित्व में अनुभव पूर्वक स्वयं की अक्षयता को सिध्द कर देता है। यही अस्तित्व में परमाणु का विकास और उसकी निश्चयता है।

ज्ञानावस्था के पांच मानव

संक्रम

निभ्रांन्त– दया, कृपा करूणा ---- **दिव्य मानव–** → मुक्ति जीवन

दया, उदारता वीरता ---- **देव मानव**

भ्रांता भ्रांत– धीरता, वीरता, उदारता-**मानव**

-- व्यवस्था, शिक्षा, आचरण में सामरस्यता

संक्रम

भ्रांत - क्रूरता, हीनता, दीनता ----**राक्षस मानव**

दीनता, हीनता, क्रूरता ----**पशु मानव**

-- अव्यवस्था का प्रकाशन

संक्रम